जैन धर्म दर्शन

(भाग - 6)

प्रकाशक : आदिनाथ जैन ट्रस्ट, चूलै, चेन्नई

(ESTD 1979)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म दर्शन

(भाग - 6)

मार्गदर्शक : डॉ. सागरमलजी जैन
प्राणी मित्र श्री कुमारपालभाई वी. शाह

संकलनकर्ता : डॉ. निर्मला जैन

* प्रकाशक *

आदिनाथ जैन ट्रस्ट

[ESTD 1979]

चूलै, चेन्नई

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म दर्शन भाग-6
प्रथम संस्कारण : मार्च 2013
प्रतियाँ : 3000

प्रकाशक एवं परीक्षा फॉर्म प्राप्ति स्थल :
आदिनाथ जैन ट्रस्ट
21, वी.वी. कोईल स्ट्रीट,
चूलै, चेन्नई- 600 112.
फोन : 044-2669 1616, 2532 2223

मुद्रक :
नवकार प्रिंटर्स
9, ट्रिवेलियन बेसिन स्ट्रीट
साहुकारपेट, चेन्नई - 600 079.
दूरभाष : 2529 2233

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

❊ प्रस्तुत प्रकाशन के अर्थ सहयोगी ❊

Shri Raichand Hansraj Dharamshi

(Gujarat Kutch Suthari)
Worli, Mumbai 400018.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

	हमारी बात	i
	आदिनाथ सेवा संस्थान का संक्षिप्त परिचय	ii
	सुकृत अनुमोदना	iii
	शुभाशंसा	iv
	अंतःआशीष	v
	अनुमोदना के हस्ताक्षर	vi
	प्राक्कथन	vii
	प्रकाशकीय	viii
1.	**जैन इतिहास**	
	भगवान महावीर स्वामी के पाट परम्परा के प्रमुख आचार्य	1
2.	**जैन तत्व मीमांसा**	
	सम्यग् दर्शन का स्वरूप	8
3.	**जैन प्रमाण मीमांसा**	
	जैन दर्शन में ज्ञान का स्वरूप	18
	प्रमाणवाद	32
	नयवाद	36
	निक्षेपवाद	41
	अनेकान्तवाद	43
	स्याद्वाद	45
4.	**जैन आचार मीमांसा**	
	श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ	49

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधिमरण (संलेखना) 53

5. आत्मिक विकास का स्वरूप

चौदह गुणस्थान 60

6. सूत्रार्थ

मंदिरमार्गी परम्परा के अनुसार

1. वंदितु सूत्र गाथा 36 से 50 तक 75
2. आयरिय उवज्झाए सूत्र 83
3. नमोऽस्तु वर्धमानाय सूत्र 84
4. संसार दावानल की स्तुति 86
5. अड्ढाईज्जेसु सूत्र 89
6. चउक्कसाय सूत्र 91
7. अर्हन्तो भगवंत 93

स्थानकवासी परम्परा के अनुसार

दशवैकालिक सूत्र (अध्याय 1-2 तक) 94

7. जैन पर्व

मौन एकादशी 101

होली 105

अक्षय तृतीया 107

रक्षा बन्धन 109

8. परिक्षा के नियम 111

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारी बात

दि. 5.7.1979 के मंगल दिवस पर चूलै जिनालय में भगवान आदिनाथ के प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर स्व. **श्री अमरचंदजी कोचर** द्वारा स्थापित **श्री आदिनाथ जैन मंडल** अपनी सामाजिक गतिविधियों को आदिनाथ जैन ट्रस्ट के नाम से पिछले 31 वर्षों से प्रभु महावीर के बताये मार्ग पर निरंतर प्रभु भक्ति, जीवदया, अनुकंपा, मानवसेवा, साधर्मिक भक्ति आदि जिनशासन के सेवा कार्यों को करता आ रहा है। ट्रस्ट के कार्यों को सुचारु एवं स्थायी रुप देने के लिए सन् 2001 में चूलै मेन बाजार में (पोस्ट ऑफिस के पास) में 2800 वर्ग फुट की भूमि पर बने त्रिमंजिला भवन **'आदिनाथ जैन सेवा केन्द्र'** की स्थापना की गई। भवन के परिसर में प्रेम व करुणा के प्रतीक भगवान महावीर स्वामी की दर्शनीय मूर्ति की स्थापना करने के साथ करीब 7 लाख लोगों की विभिन्न सेवाएँ की जिसमें करीब 1 लाख लोगों को शाकाहारी बनाने का अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है।

आदिनाथ जैन सेवा केन्द्र में स्थाई रुप से हो रहे नि:शुल्क सेवा कार्यों की एक झलक :

* 13 विकलांग शिविरों का आयोजन करने के पश्चात अब स्थायी रुप से विकलांग कृत्रिम लिंब सहायता केन्द्र की स्थापना जिसमें प्रतिदिन आने वाले विकलांगों को नि:शुल्क कृत्रिम पैर, कृत्रिम हाथ, कैलिपरस्, क्लचेज, व्हील चैर, ट्राई - साईकिल आदि देने की व्यवस्था।
* आंखों से लाचार लोगों की अंधेरी दुनिया को फिर से जगमगाने के लिए एक स्थायी फ्री आई क्लिनिक की व्यवस्था जिसमें नि:शुल्क आंखों का चेकउप, आंखों का ऑपरेशन, नैत्रदान, चश्मों का वितरण आदि।
* करीबन 100 साधर्मिक परिवारों को प्रतिमाह नि:शुल्क अनाज वितरण एवं जरुरतमंद भाईयों के उचित व्यवसाय की व्यवस्था।
* बहनों के लिए स्थायी रुप से नि:शुल्क सिलाई एवं कसीदा ट्रेनिंग क्लासस एवं बाद में उनके उचित व्यवसाय की व्यवस्था।
* आम जनता की स्वास्थ्य सुरक्षा हेतु एक फ्री जनरल क्लिनिक जिसमें हर रोज 50 से ज्यादा मरीजों का निशुल्क चेकअप, दवाई वितरण।
* प्रतिदिन करीब 200 असहाय गरीब लोगों को निशुल्क या मात्र 3 रुपयों में शुद्ध सात्विक भोजन की व्यवस्था।
* दिमागी रुप से अस्थिर दु:खियों के लिए प्रतिदिन नि:शुल्क भोजन।
* नि:शुल्क एक्यूपंक्चर,एक्यूप्रेशर, फिसियोथेरपी एवं नेच्युरोथेरेपी क्लिनिक
* जरुरतमंद विद्यार्थियों को नि:शुल्क स्कूल फीस, पुस्तकें एवं पोशाक वितरण।
* रोज योगा एवं ध्यान शिक्षा।
* होमियोपेथिक क्लीनिक
* आपातकानीन अवसर में 6 घंटों के अंदर राहत सामग्री पहुंचाने की अद्‌भुत व्यवस्था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदिनाथ जिनशासन सेवा संस्थान में होने वाली सम्भवित योजनाओं का संक्षिप्त विवरण

हाल ही में हमारे ट्रस्ट ने चूलै के मालू भवन के पास **9000 वर्ग फुट** का विशाल भुखंड खरीदकर **'आदिनाथ जिनशासन सेवा संस्थान'** के नाम से निम्न शासन सेवा के कार्य करने का दृढ संकल्प करता है।

⁎ विशाल ज्ञानशाला

- ⁎ जैन धर्म के उच्च हितकारी सिद्धांतों के प्रचार - प्रसार के लिए आवासीय पाठशाला...
- ⁎ जिसमें श्रद्धावान मुमुक्षु, अध्यापक, विधिकारक, मंदिर सेवक (पुजारी), संगीतकार, पर्युषण आराधक इत्यादि तैयार किए जाएंगे।
- ⁎ निरंतर 24 घंटे पिपासु साधर्मिकों की ज्ञान सुधा शांत करने उपलब्ध होंगे समर्पित पंडिवर्य व अनेक गहन व गंभीर पुस्तकों से भरा पुस्तकालय।
- ⁎ बालक - बालिकाओं व युवानों को प्रेरित व पुरस्कारित कर धर्म मार्ग में जोडने का हार्दिक प्रयास।
- ⁎ जैनोलॉजी में बी.ए., एम.ए. व पी.एच.डी. का प्रावधान।

⁎ साधु-साध्वीजी भगवंत वैयावच्च

- ⁎ जिनशासन को समर्पित साधु-साध्वी भगवंत एवं श्रावकों के वृद्ध अवस्था या बिमारी में जीवन पर्यंत उनके सेवा भक्ति का लाभ लिया जाएगा।
- ⁎ साधु-साध्वी भगवंत के उपयोग निर्दोष उपकरण भंडार की व्यवस्था।
- ⁎ ज्ञान-ध्यान में सहयोग।
- ⁎ ऑपरेशन आदि बडी बिमारी में वैयावच्च।

⁎ वर्षीतप पारणा व आयंबिल खाता

- ⁎ विश्व को आश्चर्य चकित करदे ऐसे महान तप के तपस्वीयसों के तप में सहयोगी बनने सैंकडों तपस्वियों के शाता हेतु सामूहिक वर्षीतप (बियासणा), 500 आयंबिल तप व्यवस्था व आयंबिल खाता प्रारंभ हो चुका है।

⁎ धर्मशाला

- ⁎ चिकित्सा, शिक्षा, सार्वजनिक कार्य एवं व्यापार आदि हेतु दूर - सुदूर देशों से पधारने वाले भाईयों के लिए उत्तम अस्थाई प्रवास व भोजन व्यवस्था।

⁎ शुद्ध सात्विक जैन भोजनशाला

- ⁎ किसी भी धर्म प्रेमी को प्रतिकूलता, बिमारी या अन्तराय के समय शुद्ध भोजन की चिंता न रहे इस उद्देश्य से बाहर गाँव व चेन्नई के स्वधर्मी भाईयों के लिए उत्तम, सात्विक व स्वास्थ वर्धक जिनआज्ञामय शुद्ध भोजन की व्यवस्था।

⁎ साधर्मिक स्वावलम्बी

- ⁎ हमारे दैनिक जीवन में काम आने वाली शुद्ध सात्विक एवं जैन विधिवत् रुप से तैयार की गई वस्तुओं की एक जगह उपलब्धि कराना, साधर्मिक परिवारों द्वारा तैयार की गई वस्तुएँ खरीदकर उन्हें स्वावलंबी बनाना एवं स्वधर्मीयों को गृहउद्योग के लिए प्रेरित कर सहयोग करना इत्यादि।

⁎ जैनोलॉजी कोर्स Certificate & Diploma Degree in Jainology

- ⁎ जैन सिद्धांतों एवं तत्वज्ञान को जन - जन तक पहुँचाने का प्रयास, दूर - सुदूर छोटे गाँवों में जहाँ गुरु भगवंत न पहुँच पाये ऐसे जैनों को पुनः धर्म से जोडने हेतु 6 - 6 महीने के Correspondence Course तैयार किया गये हैं। हर 6 महीने में परीक्षा के पूर्व त्रिदिवसीय शिविर द्वारा सम्यक् ज्ञान की ज्योति जगाने का कार्य शुभारंभ हो चुका है।

⁎ जीवदया प्राणी प्रेम प्रकल्प योजना

- ⁎ मानव सेवा के साथ - साथ मूक जानवरों के प्रति प्रेम व अनुकम्पा का भाव मात्र जिनशासन सिखलाता है। जिनशासन के मूलाधार अहिंसा एवं प्रेम को कार्यान्वित करने निर्माण होंगे 500 कबुतर घर व उनके दाना-पानी सुरक्षा आदि की संपूर्ण व्यवस्था।

मोहन जैन
सचिव आदिनाथ जैन ट्रस्ट

8-3-2013

सुकृत अनुमोदना

।। ॐ अर्हं नमः।।

जैन धर्म दर्शन पाठ्यक्रम के इस छठे व अंतिम खंड का स्वागत करते हुए हर्ष की अनुभूति हो रही है। तीन वर्षों से ज्यादा लंबी यह यात्रा हर अपने पड़ाव पर नए शिखरों को छूती हुई अब अपने विवक्षित अंतिम शिखर पर है, इन ज्ञान शिखरों पर चढ़-चढ़ कर स्वयं का दर्शन करना और इस स्व-दर्शन के माध्यम से मानो सारे संसार का दर्शन कर लेना एक अलग ही आनंद की अनुभूति करवाता है।

कल्याण-निधान सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित यह जैन धर्म आत्मा में आत्मा की प्रतिष्ठा का धर्म है, यही इस धर्म का मुख्य हेतु है, यहीं पर जीव के सारे दुःखों की विमुक्ति है। याद रहें कि यह पर में स्व की प्रतिष्ठा का धर्म नहीं है, अतः स्वाभाविक रूप से यही बात इस पाठ्यक्रम पर भी अक्षरशः लागू होती है। यह समग्र पाठ्यक्रम इसका हर शब्द हर अक्षर निज कल्याण के संदेशों से भरा पडा है। इन संदेशों को खोज कर आत्मसात करना यही इसके अभ्यास का मकसद हो सकता है। डिग्री या सर्टीफीकेट जैसी बातें इस अभ्यासक्रम का मकसद नहीं हो सकती, फिर भले ही लोकरूढी में इन का ही महत्व क्यूं न हो गया हों। लोकोत्तर बात का मकसद लौकिक नहीं हो सकता।

इस पाठ्यक्रम की पूर्णता तक पहुँचने वाले आप सभी का अभिनंदन! आपने जैन धर्म का प्राथमिक परिचय प्राप्त कर लिया है। अब आपने कुछ योग्यता प्राप्त की है, कि अब आप आपकी बाट देख रहे जिन शासन के विराट ज्ञान सागर में गोते लगा सके। विनीत पात्र को गुरूगम से इसकी चाबीयाँ मिल सकती है।

इस पाठ्यक्रम का वक्त की मांग के अनुरूप सर्जन कर इसके भारतभर में प्रचार-प्रसार हेतु मैं **डॉ. निर्मलाजी** एवं आदिनाथ ट्रस्ट के समग्र ट्रस्टीगण श्री मोहनजी आदि को साधुवाद देता हूँ। श्री संघ की सेवा में आगे भी इसी तरह की नई-नई ज्ञानांजलि अर्पण करते रहे ऐसी शुभेच्छा व आशिर्वाद।

पंन्यास अजयसागर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शुभाशंसा

भद्रावती
10-3-2013

स्वयं के द्वारा स्वयं का अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाता है। बिना स्वाध्याय के जीवन का यथार्थ निरीक्षण, परीक्षण, समीक्षण एवं शुद्धीकरण असम्भव है। स्वाध्याय के अप्रतिम महत्व को देखते हुए ही शास्त्रों में स्वाध्याय को सर्वोत्कृष्ट तप कहा गया है - **स्वाध्याय परमं तपः**।

साधना-आराधना की उच्च भूमिका में स्वाध्याय का स्वरूप अन्तर्मुखी चिन्तन-मनन-मंथन रह जाता है। किंतु प्राथमिक भूमिका में स्वाध्याय का अर्थ है सद्ग्रन्थों एवं सत्साहित्यों का स्वलक्षी होकर अध्ययन (वांचन) करना है। इससे हमारी विचार-शुद्धि होकर व्यवहार-शुद्धि होती है। अतः पूर्वाचार्यों ने निद्रा, हास्य, विकथा आदि को टालते हुए सदैव स्वाध्यायरत रहने का ही उपदेश दिया है - **'सज्झायम्मि सया रया'** ।

आज के भौतिकवादी युग में, जहाँ भोग-विलास के साधन सहज उपलब्ध हैं, वहीं ज्ञान-सामग्री की प्राप्ति विरल है। विशेषकर वे ज्ञान-सामग्रियाँ जो चित्ताकर्षक हो, की उपलब्धता तो अतिविरल है। ऐसी परिस्थिति में विदूषी श्राविका सुश्री **डॉ. निर्मलाजी जैन** ने विशिष्ट परिश्रम करके स्वाध्याय हेतु सरल, सरस एवं सुन्दर शैली में छह-छह पुस्तकों की रचना कर एक अनुमोदनीय एवं अनुकरणीय कार्य किया है।

आदिनाथ जैन ट्रस्ट के सर्व **श्री मोहनजी** एवं **श्री मनोजजी गोलेच्छा** आदि के सक्रिय सहयोग से ये पुस्तकें आज सभी के लिए घर बैठे उपलब्ध है। जैन धर्म एवं दर्शन के जिज्ञासु इन पुस्तकों के माध्यम से जैन पौराणिक कथाओं, इतिहास, तत्त्वज्ञान, आचार-मीमांसा, प्रतिक्रमण सूत्र एवं अर्थ आदि अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुतः, वर्तमान युग में यह एक सराहनीय एवं सफल पहल है।

इन पुस्तकों की एक और विशेषता यह है कि ये क्रमशः गहन एवं तलस्पर्शी होती जाती हैं। प्रस्तुत छठी पुस्तक में जिन नय, निक्षेप, प्रमाण, सप्तभंगी, अनेकान्त, गुणस्थान आदि गूढ विषयों का समावेश किया गया है।, ये विषय सामान्यतया अछूते ही रह जाते हैं। निस्संदेह, इन विषयों के वर्णन से इन पुस्तकों की उपादेयता में और अधिक अभिवृद्ध होगी।

इस सार्थक कदम के लिए कार्य से जुड़े सभी महानुभावों की भूरि-भूरि अनुमादेना।

मुनि महेन्द्रसागर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अंतः आशीष

भद्रावती
5-3-2013

जिनशासन में ज्ञान की महिमा अपरंपार है, रत्नत्रयी में मध्य स्थान को पाया हुआ ज्ञान एक तरफ सम्यग् दर्शन की प्राप्ति , स्थिरता व शुद्धि का कारण बनता है तो दूसरी तरफ सम्यक् चारित्र की भी प्राप्ति, स्थिरता व शुद्धि-वृद्धि का कारण बनता है, अतः मोक्षमार्ग का मूल आधार है ज्ञान भव अटवी को पार पाने के लिए ज्ञान बिन घोर अंधकार है । अमृत है ज्ञान, जो क्रिया में यथार्थ प्राणों को संचार कर के उसे जीवंत व फलदायी बनाता है ।

जैन धर्म दर्शन यह पाठ्यक्रम ज्ञान पिपासु आत्मार्थीयों हेतु एक सुंदर प्रारंभिक झरने का काम कर रहा है, अतीव प्रसन्नता का विषय है कि यह पाठ्यक्रम अपनी विवक्षित पूर्णता को प्राप्त कर रहा है। इसका छट्ठा व अंतिम खण्ड अब प्रकाश्यमान है। आदिनाथ जैन ट्रस्ट के पदाधिकारीयों के प्रयत्नों से **डॉ. निर्मलाजी** के अथक प्रयासों से लिखित यह पाठ्यक्रम इतने कम समय में करीब सारे भारत में आदेयता को प्राप्त कर रहा है । यह आनंद का विषय है ।

इस पाठ्यक्रम की सर्जन यात्रा की मैं प्रारंभ से ही साक्षी रही हूँ, निर्मलाजी के आत्मीय आग्रह के वश हो कर इस सारे पाठ्यक्रम की प्रेस कॉपी के निरीक्षण का पुण्यलाभ स्वाध्याय के रूप में मुझे प्राप्त हुआ, उसका मन में बडा हर्षाभास है । समय-समय पर कुछ सुझाव भी किए है ।

इस पाठ्यक्रम में शास्त्र निष्ठा को अक्षुण्ण रखते हुए मानों गागर में सागर को भरने का कार्य किया गया है । जिनशासन में ज्ञान की कोई सीमा नहीं, लेकिन फिर भी इस पाठ्यक्रम में प्राथमिक स्तर उपर उपयोगी अधिकांश विषयों को शक्य समावेश करने का प्रयत्न किया गया है। रंगीन चित्रों एवं आकर्षण साज-सज्जा के साथ इस पाठ्यक्रम ने अपनी एक अलग ही पहचान बनाई है ।

इस पावनीय प्रयास हेतु संलग्न सभी को अभिनंदन पूर्वक मेरा अंत करण से आशिर्वाद है । कामना है कि इस पाठ्यक्रम के अभ्यासु शीघ्र अपने कल्याण की प्राप्ति करें ।

साध्वी मणिप्रभाश्री

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुमोदन के हस्ताक्षर

कुमारपाल वी.शाह
कलिकुंड, ढोलका

जैन दर्शन धर्म समस्त विश्व का, विश्व के लिए और विश्व के स्वरुप को बताने वाला दर्शन है। जैन दर्शन एवं कला बहुत बहुत प्राचीन है। जैन धर्म श्रमण संस्कृति की अद्‌भूत फुलवारी है इसमें ज्ञान योग, कर्म योग, अध्यात्म और भक्ति योग के फूल महक रहे हैं।

परमात्म प्रधान, परलोक प्रधान और परोपकार प्रधान जैन धर्म में नये युग के अनुरुप, चेतना प्राप्त कराने की संपूर्ण क्षमता भरी है। क्योंकि जैन दर्शन के प्रवर्तक सर्वदर्शी, सर्वज्ञ वीतराग देवाधिदेव थे।

जैन दर्शन ने ''यथास्थिस्थितार्थ वादि च...'' संसार का वास्तिवक स्वरुप बताया है। सर्वज्ञ द्वारा प्रवर्तित होने से सिद्धांतों में संपूर्ण प्रमाणिकता, वस्तु स्वरुप का स्पष्ट निरुपण, अरिहंतो से गणधर और गणधरों से आचार्यों तक विचारो की एकरुपता पूर्वक की उपदेश परंपरा हमारी आन बान और शान है।

संपूर्ण विश्व के कल्याण हेतु बहुत व्यापक चिंतन प्रस्तुत कराने वाला जैन दर्शन सर्वकालिन तत्त्कालिन और वर्तमान कालिन हुई समस्याओं का समाधान करता है, इसीलिए जैन दर्शन कभी के लिए नहीं अभी सभी के लिए है।

यहाँ जैन धर्म दर्शन के व्यापक स्वरुप में से आंशीक और आवश्यक तत्वज्ञान एवं आचरण पक्ष को **डॉ. कुमारी निर्मलाबेन** ने स्पष्ट मगर सरलता से प्रस्तुत किया है। स्वाध्यायप्रिय सब के लिए अनमोल सोगात, आभूषण है। बहन **निर्मला** का यह प्रयास वंदनीय है।

ध्यान में रहे इसी पुस्तक का स्वाध्याय ज्ञान के मंदिर में प्रवेश करने का मुख्य द्वार है।

***

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

❊ प्राक्कथन ❊

प्रस्तुत कृति की रचना जन सामान्य को जैन धर्म दर्शन का बोध कराने के उद्देश्य से की गई है। इस पुस्तक में जैन धर्म दर्शन को निम्न छः खण्डों में विभाजित किया गया है। 1. जैन इतिहास 2. तत्त्व मीमांसा 3. आचार मीमांसा 4. कर्म मीमांसा 5. धार्मिक क्रियाओं से संबंधित सूत्र एवं उनके अर्थ और 6. धार्मिक महापुरुषों की जीवन कथाएँ।

जैन धर्म दर्शन को सामान्य जन को परिचित कराने करवाने के उद्देश्य से प्रस्तुत पाठ्यक्रम की योजना बनाई गई। यह पाठ्यक्रम छः सत्रों (सेमेस्टर) में विभाजित किया गया है, इसमें जैन इतिहास, जैन आचार, जैन तत्त्वज्ञान, जैन कर्म, सूत्रार्थ आदि का समावेश किया गया है। मूलतः यह पाठ्यक्रम परिचयात्मक ही है, अतः इसमें विवादात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि को न अपनाकर मात्र विवरणात्मक दृष्टि को ही प्रमुखता दी गई है। ये सभी विवरण प्रामाणिक मूल ग्रंथों पर आधारित है। लेखक एवं संकलक की परंपरा एवं परिचय मुख्यतः श्वेताम्बर परंपरा से होने के कारण उन सन्दर्भों की प्रमुखता होना स्वाभाविक है। फिर भी यथासम्भव विवादों से बचने का प्रयत्न किया गया है।

पंचम सत्र में सर्वप्रथम जैनागम साहित्य का प्रत्येक आगमों का संक्षिप्त विवेचन किया है। तत्त्वों के स्थान पर जैन साधना में ध्यान, योग और छः लेश्याओं का निरूपन किया है। आचार के क्षेत्र में श्रावक के 12 व्रतों की चर्चा की गई है। कर्म मीमांसा में गोत्र कर्म, अन्तरार्य कर्म तथा कर्म की विविध अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन है। सूत्रार्थ में वंदितु सूत्र तथा स्थानकवासी परंपरा के बारह व्रत अतिचार सहित सूत्रार्थों का स्पष्टीकरण किया गया है। अंत में पर्युषण पर्व, दीपावली, ज्ञान पंचमी तथा कार्तिक पूर्णिमा आदि पर्वों पर प्रकाश डाला गया है।

षष्टम सत्र में सर्व प्रथम भ. महावीरस्वामी के पाट परम्परा के विशिष्ट आचार्यों का विवेचन किया गया है। तत्वों में सम्यग्दर्शन का स्वरूप तथा प्रमाण मीमांसा में जैन दर्शन में ज्ञान का स्वरूप, प्रमाणवाद, नयवाद, निक्षेपवाद, अनेकांतवाद एवं स्याद्वाद का विस्तृत वर्णन है। तत् पश्चात् जैनाचार में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ तथा समाधिमरण का उल्लेख किया गया है। कर्म के स्थान पर इस बार आत्मिक विकास का स्वरूप चौदह गुणस्थान का विवेचन किया गया है। सूत्रार्थ में प्रतिक्रमण के कुछ सूत्र एवं दशवैकालिक सूत्र के प्रथम दो अध्ययनों का भावार्थ के साथ स्पष्टीकरण किया गया है। अंतः में मौन एकादशी, होली, अक्षय तृतीया एवं रक्षा बन्धन पर्वो पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत कृत में पूर्व प्रथम भाग में जैन धर्म दर्शन संबंधी जो जानकारियाँ थी, उनका अग्रिम विकास करते हुए नवीन विषयों को समझाया गया है। फिर भी सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें जो विकासोन्मुख क्रम अपनाया गया है वह निश्चित ही जन सामान्य को जैन धर्म के क्षेत्र में अग्रिम जानकारी देने में रुचिकर भी बना रहेगा। प्रथम खण्ड का प्रकाशन सचित्र रुप से जिस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। उसी प्रकार यह खण्ड की जन साधारण के लिए एक आकर्षक बनेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। कृति प्रणयन में **डॉ. निर्मला बरडिया** ने जो श्रम और आदिनाथ जैन ट्रस्ट के आयोजकों का जो सहयोग रहा है वह निश्चित ही सराहनीय है। **आदिनाथ जैन ट्रस्ट** जैन विद्या के विकास के लिए जो कार्य कर रहा है, और उसमें जन सामान्य जो रुचि ले रहे हैं, वह निश्चित ही अनुमोदनीय है। मैं इस पाठ्यक्रम की भूरि भूरि अनुमोदना करता हूँ

डॉ. सागरमल जैन
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* प्रकाशकीय *

वर्तमान समय में जीव के कल्याण हेतु "**जिन आगम**" प्रमुख साधन है। जीवन की सफलता का आधार सम्यक जीवन में वृद्धि तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। जहाँ सम्यक् ज्ञान है वहाँ शांति है, आनंद है और जहाँ अज्ञान है वहाँ आर्तध्यान है । परम पुण्योदय से मनुष्य जन्म एवं जिनशासन प्राप्त होने पर भी अध्ययन करने वाले अधिकतर विद्यार्थियों को धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा न मिलने के कारण आज के युग में प्रचलित भौतिकवादी ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा मानव बुद्धि को तृष्णा, ईर्ष्या, असंतोष, विषय - विलास आदि तामसिक भावों को बढावा दिया हैं। ऐसे जड विज्ञान भौतिक वातावरण तथा विलासी जीवन की विषमता का निवारण करने के लिए सन्मार्ग सेवन तथा तत्वज्ञान की परम आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से यह त्रिवर्षीय पत्राचार द्वारा पाठ्यक्रम (Certificate & Diploma Course) हमारे ट्रस्ट द्वारा शुरु किया गया हैं। ताकि प्रभु महावीर की वाणी घर बैठे जन - जन तक पहुँच सकें, नई पीढी धर्म के सन्मुख होवे तथा साथ में वे लोग भी लाभान्वित हो जहाँ दूर - सुदूर, छोटे - छोटे गाँवों में साधु-साध्वी भगवंत न पहुंच पाये, गुरुदेवों के विचरन के अभाव में ज्ञान प्राप्ति से दूर हो रहे हो।

"**जैन धर्म दर्शन**" के नाम से नवीन पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया है, जिसमें भाग 1 से 6 तक प्रति 6-6 महीने में प्रस्तुत किये जाएंगे।

इस पुस्तक के पठन - पाठन से पाठकगण जैन इतिहास, तत्त्वमीमांसा, आचार मीमांसा, कर्म मीमांसा सूत्रार्थ - महापुरुषों के जीवन कथाओं के विषय पर विशेष ज्ञान प्राप्त कर मन की मलिनताओं को दूर कर सकेंगे, ऐसा विश्वास है। इस पुस्तक की समाप्ति पर इसके वर्णित पदार्थों की शास्त्रानुसारिता को प्रमाणिक करने के लिए **प.पू. पंन्यास प्रवर श्री अजयसागरजी म.सा., पूज्या गुरुवर्या विचक्षणश्रीजी म.सा. की शिष्या एवं पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा. की निश्रावर्तिनी पूज्या साध्वीजी श्री हेमप्रज्ञाश्रीजी म.सा., डॉ. सागरमलजी जैन एवं प्राणी मित्र श्री कुमारपाल भाई वी. शाह** आदि ने निरीक्षण किया है। उस कारण बहुत सी भाषाएं भूलों में सुधार एवं पदार्थ की सचोष्टता आ सकी है। अन्य कई महात्माओं का भी मार्गदर्शन मिला है। उन सबके प्रति कृतज्ञयभाव व्यक्त करते हैं। पुस्तक की प्रुफरीडिंग के कार्य में **श्री मोहन जैन एवं सुश्री ममता बरड़िया** का भी योगदान रहा है।

आशा है आप हमारे इस प्रयास को आंतरिक उल्लास, उर्जा एवं उमंग से बधाएंगे और प्रेम, प्रेरणा, प्रोत्साहन से अपने भीतर के आत्म विश्वास को बढाएंगे।

अंत में इस नम्र प्रयास के दौरान कोई भी जिनाज्ञा विरुद्ध कथन हुआ हो तो मिच्छामि दुक्कडं।

डॉ. निर्मला जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* जैन इतिहास *

भगवान महावीर स्वामी के पाट परम्परा
के प्रमुख आचार्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर स्वामी के पाट परम्परा के प्रमुख आचार्य

1. सुधर्मास्वामी - भगवान महावीर स्वामी के पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी थे। इनके माता का नाम भद्दिला और पिता का नाम धम्मिल्ल था। वे चौदह विद्या निधान थे।50 वर्ष की उम्र में वीर परमात्मा के पास दीक्षा अंगीकार की थी, 30 वर्ष पर्यन्त वीर प्रभु के चरण कमलों की सेवा की, भगवन्त के मोक्ष के पश्चात् 12 वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहे और 8 वर्ष केवलज्ञान पर्याय में रहे। इस प्रकार 100 वर्ष की आयुष्य पूर्ण कर जम्बूस्वामी को अपने पट्ट पर स्थापन कर मोक्ष पधार गये।

2. आचार्य जम्बूस्वामी - जम्बूस्वामी भगवान महावीरस्वामी के द्वितीय पट्टधर थे। उनका जन्म वीर निर्वाण 16 में ऋषभदेव सेठ की भार्या धारिणी की कुक्षी से राजगृह नगरी में हुआ। गर्भावस्था में माताजी ने जम्बू वृक्ष देखा था, इससे उनका नाम जम्बूकुमार रखा गया। क्रमशः यौवनावस्था को प्राप्त हुए, सुधर्मास्वामी का उपदेश सुनकर वैराग्यवान हुए। एक वक्त गणधर सुधर्मास्वामी का उपदेश सुनकर दीक्षा के लिए माता-पिता के पास आज्ञा लेने आ रहे थे, बीच में दरवाजें में प्रवेश करते समय तोप का गोला सामने आया, थोडे हटकर अपने आपको बचा लिया, नहीं तो मृत्यु हो जाती वही से वापिस लौटकर सुधर्मास्वामी के पास ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया, व्रत लेने पर भी माता-पिता के आग्रह से आठ कन्याओं से शादी की। उसी रात्री में आठों ही कन्याओं को उपदेश देकर विरागी बनाया। उस समय 500 चोरों के साथ चोरी करने आए हुए प्रभव चोर ने भी प्रतिबोध पाया।

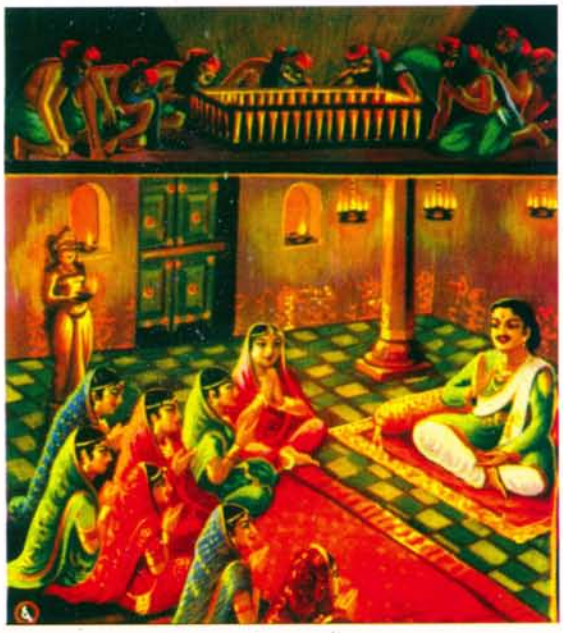

दूसरे दिन जम्बूकुमार दीक्षा के लिए तैयार हुए तब उनकी आठों स्त्रियाँ, उनके माता-पिता तथा जम्बूकुमार के माता-पिता और पांचसौ चोर सहित प्रभव, इस तरह कुल 527 के साथ जंबूकुमार ने दीक्षा ली और अंतिम केवली बने। भगवान महावीरस्वामी के मोक्ष के 64 वर्ष बाद मोक्ष पधारे।

3. आचार्य प्रभवस्वामी - विन्ध्य नरेश के ज्येष्ठ पुत्र प्रभव क्षत्रिय राजकुमार थे। किसी कारणवश विन्ध्य नरेश ने अपने कनिष्ठ पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बना दिया। इससे बुद्धिबल और शरीरबल के स्वामी प्रभव रूष्ट होकर चौरों की पल्ली में पहुँच कर 500 चौरों के नेता बन गये।

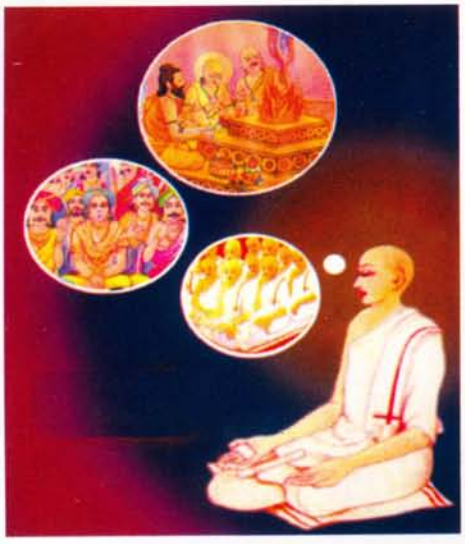

प्रभव के पास दो विधाएँ थी - अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी! अवस्वापिनी विद्या के द्वारा सबको निद्राधीन कर सकते थे और तार्लाद्घाटिनी विद्या के द्वारा तालो को खोल सकते थे। एक बार जम्बूस्वामी के यहाँ 500 चोरों के साथ चोरी करने गये। पति पत्नि के बीच वैराग्य प्रेरक संवाद सुनकर 500 चोरों के साथ सुधर्मास्वामी के पास दीक्षा ग्रहण की। जम्बूस्वामी के बाद शासन को संभालने वाले पूज्य श्री प्रथम श्रुतकेवली (चौदह पूर्व के ज्ञाता) बने। जैनशासन की धुरा को सौंपने के लिए श्रमण तथा श्रमणोपासक संघ में लायक व्यक्ति न दिखने पर शय्यंभव भट्ट को प्रतिबोध देकर चारित्र दिया। अपने पट्ट पर शय्यंभव सूरि को स्थापन कर 85 वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्ग सिधारें।

4. शय्यंभवसूरि - शय्यंभवसूरि पूर्वावस्था में कर्मकांडी ब्राह्मण थे। एक समय वे राजगृही नगरी में पशुमेघ यज्ञ करवा रहे थे, तब उनकी पात्रता को देखकर प्रभवस्वामी ने अपने दो मुनियों को उनके पास भेजा। यज्ञमंडप में जारी घोर हिंसा में डूबे हुए शय्यंभव को सुनायी पडे इस तरह दो मुनियों ने कहा, ''धर्म के नाम पर चल रही क्रूर हिंसा में भला तत्त्व की किसे सूझबुझ है?''

शय्यंभव भट्ट ने यह सुनकर तत्वज्ञान पूछने के लिये क्रोधित हो प्रभवस्वामी के पास पहुँचकर खड्ग अणकर बोले - तत्व बताओ। नहीं तो इस तलवार से सिर उठा दूंगा, प्रभवस्वामी ने सोचा 'शिरच्छेद की हालत में तत्व कहने में कोई दोष नहीं है' तब कहा कि - अहो! यज्ञ स्तम्भ के नीचे श्री शांतिनाथ प्रभु की प्रतिमा शांति के लिए रखी गई है, उससे शांति हो रही है, यह चमत्कृत बात सुनकर भट्टजी को जैनधर्म पर रूचि हो गई है। परिणाम स्वरूप शय्यंभव यज्ञ, घरगृहस्थी एवं गर्भवती पत्नि - सब कुछ छोडकर, 28 वर्ष की आयु में साधु बन गये। प्रभवस्वामी से

उन्होंने क्रमशः चौदह पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया और श्रुतधर की परम्परा में दूसरे श्रुतकेवली बने।

शय्यंभव की गर्भवती पत्नी की कुक्षि से जन्मा हुआ बालक मनक आठ वर्ष का हो गया, तब साथियों के उपहास के कारण उसको अपने पिता से मिलने की तीव्र इच्छा जागृत हुई। मनक ने अपनी माता से पिता सम्बन्धी जानकारी माँगी, तो माता ने उसके विद्वान पिता शय्यंभव जैन मुनि बने तब तक का सारा वृतांत कह सुनाया। मनक को पिता मुनि के दर्शन करने की इच्छा हुई और वह उन्हें ढूंढने के लिए निकल पडा । किसी एक गाँव में शय्यंभवसूरि खुद बाहर जाते हुए मिल गये, उनसे उसने पूछा मेरे पिता शय्यंभव मुनि कहाँ है, इसकी आपको खबर है? तब स्वयं शय्यंभवसूरि ने कहा - तुझे क्या काम है? मनक ने अपना सारा किस्सा कह सुनाया और अपने आने का प्रयोजन बताया। तब गुरू महाराज ने रूपान्तर से अपनी पहिचान कराकर उसे प्रतिबोध दिया। इससे उसने दीक्षा की याचना की। सूरीश्वर ने फरमाया - यदि पिता-पुत्र का सम्बन्ध साधुओं को न बतावे तो तुझे दीक्षा दी जा सकती है। उसने स्वीकार कर लिया और अपने पिता मुनि के पास दीक्षा ग्रहण की। आचार्य शय्यंभवसूरि ने देखा कि मनक की आयु तो मात्र छः मास जितनी अल्प है, सर्व शास्त्रों का अध्ययन उसके लिए संभव नहीं है, तब आगमों से सार संग्रह निकालकर दशवैकालिक सूत्र संकलन करके उसे उनका अभ्यास करवाया।

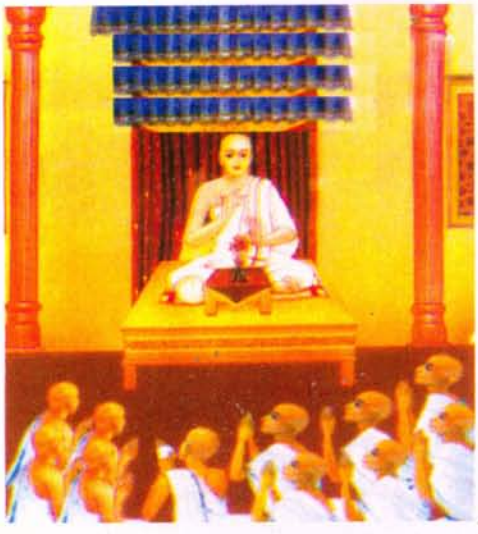

5. आचार्य यशोभद्र - यशोभद्र जैन शासन के परम यशस्वी आचार्य थे। तीर्थंकर महावीर स्वामी के वे पंचम पट्टधर थे। श्रुत केवली परम्परा में उनका क्रम तृतीय था। उनके गुरू आचार्य शय्यंभवसूरि थे।

6. आचार्य सम्भूतविजय - संयम श्रुतनिधि आचार्य सम्भूत विजय, भगवान महावीर स्वामी के षष्ट पट्टधर थे। आचार्य सम्भूतविजय का जन्म ब्राह्मण परिवार में होने के कारण उस धर्म और दर्शन के संस्कार उन्हें बाल्यकाल से ही प्राप्त थे। आचार्य यशोभद्र से उपदेशामृत का पानकर वे जैन संस्कारों में ढले।

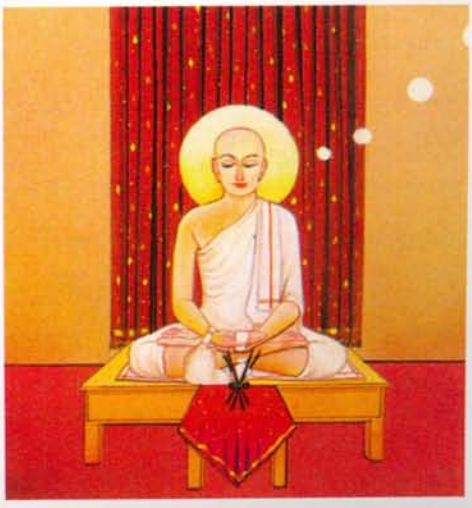

उत्कृष्ट वैराग्य के साथ 42 वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। 40 वर्ष साधु पद पर और 8 वर्ष युगप्रधान पद में विचरे-कुल 90 वर्ष की आयु पूर्णकर वीर निर्वाण से 156 वर्ष बाद स्वर्ग पधारें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7. आचार्य भद्रबाहुस्वामी - अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी, भगवान महावीर स्वामी के सातवें पट्टधर थे। आचार्य यशोभद्र के यह शिष्य चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। 45 वर्ष की आयु में संयम प्राप्त किया और आचार्य संभूतविजयजी के बाद आचार्य पद से अलंकृत हुए। 19 वर्ष तक जिनशासन के युग प्रधानपद को उन्होंने सम्भाला और शोभित किया। अपने भाई वराहमिहिर के अधुरे ज्योतिषज्ञान का प्रतिकार किया। राजपुत्र का सात दिन में बिल्ली की अर्गला से मृत्यु होगी आदि सत्य भविष्य बताकर जिनशासन की प्रभावना की। वराहमिहिर कृत उपसर्ग को शांत करने के लिए उवसग्गहरं स्तोत्र की रचना की। नेपाल की गिरि कन्दराओं में उन्होंने महाप्राण ध्यान की विशिष्ट साधना की। संघ के अनुरोध पर उन्होंने आचार्य स्थूलभद्रजी को चौदहपूर्व का ज्ञान देना स्वीकार किया किन्तु कारणवश केवल दस पूर्वों का अर्थशः तथा चार पूर्वों का मूलतः ज्ञान प्रदान किया।

आचार्य भद्रबाहुस्वामी, आगम रचनाकार थे। उन्होंने दशाश्रुतस्कंध, वृहत्कल्प, व्यवहार एवं निशीथ नामक छेदसूत्रों की रचना करके मुमुक्षु साधकों पर महान उपकार किया। आचारांग, सूत्रकृतांग, आवश्यकादि दस सूत्रों के उपर उन्होंने निर्युक्ति रची है। जिनशासन को सफल नेतृत्व एवं श्रुतसम्पदा का अमूल्य वरदान देकर श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी 76 वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग पधारे।

8. आचार्य स्थूलभद्र - स्थूलभद्र, नंदराजा के मंत्री शकडाल के ज्येष्ठ पुत्र थे। यौवनावस्था में कोशा वेश्या के मोह में फंसा दिए गये थे। षडयंत्र के कारण पिता की मृत्यु से वैरागी बने व आचार्य सम्भूतविजय के पास दीक्षा ली। श्रुतधर भद्रबाहु स्वामी श्री सम्भूतविजय के गुरूबन्धु थे। स्थूलभद्रजी ने आचार्य भद्रबाहु स्वामी के पास अर्थ से दश पूर्व और सूत्र से चौदह पूर्व का अध्ययन किया। एक समय कोशा वेश्या के यहाँ गुरू की आज्ञा से चातुर्मास किया। काम के घर में जाकर काम को पराजित किया। कोशा को धर्म में स्थिर किया। गुरु मुख से उनके इस कार्य को 'दुष्कर दुष्कर कारक' बिरूद मिला। 84 चौबीसी तक अपना नाम अमर करके प्रथम देवलोक में गये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

9. आर्यमहागिरि व आर्यसुहस्ती - ये दोनों श्री स्थूलभद्रजी के दशपूर्वी शिष्य थे। आर्य महागिरि ने गच्छ में रहकर जिनकल्प की तुलना की थी। अत्यन्त कठोर चारित्र पालते थे। अंत में

मालव प्रदेश के गजपद तीर्थ में अनशन कर स्वर्गवासी बने।

आर्य सुहस्ति सूरि सम्राट संप्रति के प्रतिबोधक थे। उन्होंने अविस्मरणीय शासन प्रभावना की। वे भी भव्य जीवों को प्रतिबोधन कर अंत में अवन्ति तीर्थ में स्वर्गवासी बने।

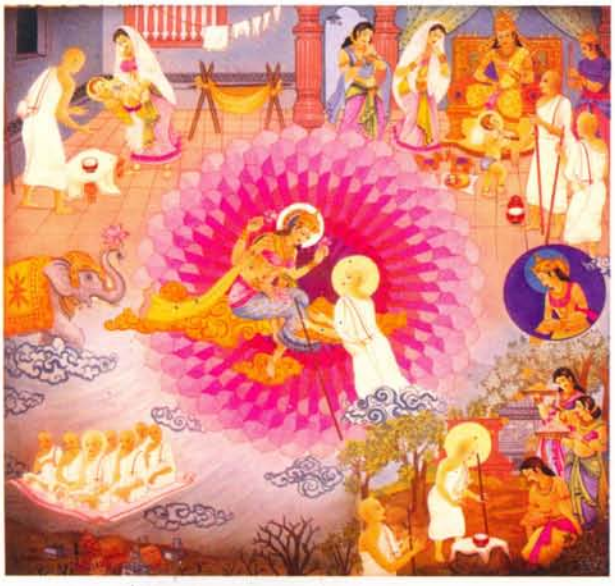

10. आचार्य वज्रस्वामी - व्रजस्वामी तुंबवन गाँव के धनगिरि व सुनंदा के पुत्र थे। पिता ने जन्मपूर्व ही दीक्षा ली यह ज्ञात होते ही सतत रूदन करके माता का मोह तुडवाया। माता ने उसे धनगिरि मुनि को बहोराया। साध्वीजी के उपाश्रय में पालने में झुलते-झुलते ग्यारह अंग कंठस्थ किये। माता ने बालक वापस लेने हेतु राजसभा में आवेदन किया। संघ समक्ष गुरू के हाथों से रजोहरण लेकर नाचकर दीक्षा ली। राजा ने बालक की इच्छानुसार न्याय दिया। संयम से प्रसन्न बने हुए मित्र देवों द्वारा आकाशगामिनी विद्या व वैक्रिय लब्धि प्राप्त की। भयंकर अकाल के समय में सकल संघ को आकाशगामी पट द्वारा सुकाल क्षेत्र में लाकर रख दिया। बौद्ध राजा को प्रतिबोधित करने हेतु अन्य क्षेत्रों से पुष्प लाकर शासन प्रभावना की। अंतिम दश पूर्वधर बनकर अनशन करके कालधर्म प्राप्त किया व इन्द्रों ने उनका महोत्सव मनाया। वज्रस्वामी के स्वर्गगामी होने के बाद दसवां पूर्व और चौथा अर्धनाराच संघयण का विच्छेद हुआ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* जैन तत्त्व मीमांसा *

सम्यग् दर्शन का स्वरूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यग्दर्शन अध्यात्म साधना का मूल आधार एवं मुख्य केन्द्र है। यह मुक्तिमहल का प्रथम सोपान है। यह श्रुत और चारित्र धर्म की आधार शिला है। जिस प्रकार उच्च एवं भव्य प्रासाद का निर्माण दृढ़ आधार शिला रूप मजबूत नींव पर ही संभव है, इसी तरह सम्यग्दर्शन की नींव पर ही श्रुत-चारित्र धर्म का भव्य प्रासाद खडा हो सकता है। आत्मा में अनंत गुण है, परन्तु सम्यग्दर्शन गुण को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। सम्यग्दर्शन का इतना अधिक महत्व इसलिए है कि सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उपलब्ध होते है। इसके सद्भाव में ही व्रत, नियम, जप, तप आदि सार्थक हो सकते है। सम्यक् दर्शन के अभाव में समस्तज्ञान और समस्त चारित्र मिथ्या है। जैसे अंक के बिना शून्य की लम्बी पंक्ति बना देने पर भी उसका कोई मूल्य नहीं होता, वैसे ही सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र का कोई अर्थ नहीं रहता। अगर सम्यक्त्व रूप अंक हो और उसके बाद ज्ञान और चारित्र हो तो प्रत्येक शून्य से दस गुनी कीमत हो जाती है। सम्यग्दर्शन से ही ज्ञान और चारित्र में सम्यक्त्व आता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है - सम्यग्दर्शन के बिना, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बिना सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होगी। चारित्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और मोक्ष-प्राप्ति के बिना कर्मजन्य दुखों से छुटकारा नहीं मिलता। इसी तरह सूत्रकृतांग सूत्र में भी स्पष्ट कहा गया है कि व्यक्ति विद्वान है, भाग्यवान् है और पराक्रमी भी है, लेकिन वह यदि असम्यक् है, तो उसके द्वारा किये हुए दान तप, अध्ययन, नियम आदि पुरूषार्थ अशुद्ध होते है और वे कर्मबन्ध के कारण बन जाते है।

सम्यग्दर्शन के विभिन्न अर्थ

जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व, समकित एवं सम्यक्दृष्टि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। सम्यग्दर्शन में दो शब्द हैं - सम्यक् और दर्शन। दर्शन का अर्थ दृष्टि, देखना, जानना, मान्यता, विश्वास, श्रद्धा करना और निश्चय करना भी है। साथ ही इसका प्रयोग विचारधारा के लिए भी किया जाता है, जैसे वैदिक दर्शन, बौद्धदर्शन, जैन दर्शन आदि। यह अर्थ यहाँ अपेक्षित नहीं है।

सम्यक् शब्द सत्यता, यथार्थता और मोक्षाभिमुखता के लिए प्रयुक्त हुआ है। जो वस्तु जैसी है, जिस रूप में अवस्थित है, स्वयं के पूर्वाग्रह त्याग कर तटस्थता पूर्वक उसको वैसी ही श्रद्धा-

यथार्थ विश्वास करना। अत: वह यथार्थश्रद्धा जो सत्य तथ्य पूर्ण होने के साथ-साथ मोक्षाभिमुखी हो, जीव की गति-प्रगति मोक्ष की ओर उन्मुख करें वह सम्यग्दर्शन है।

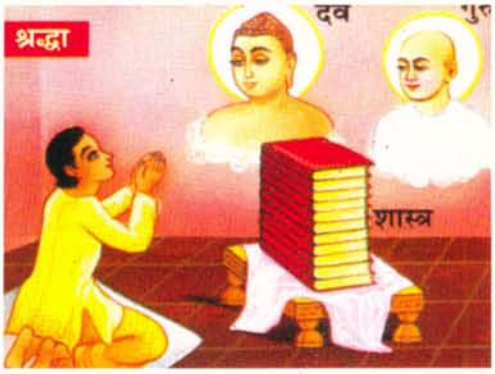

व्यावहारिक दृष्टि से **'तमेव सच्चं निसंकं जं जिणेहिं पवेइयं'** वही नि:शंक सत्य है जो सर्वज्ञ जिनेश्वरों ने बताया है ऐसी श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। देव, गुरू, धर्म इन तीनों के प्रति यथार्थ श्रद्धा करना अर्थात अरिहंत ही मेरे देव है, शुद्ध आचार का पालन करने वाले सुसाधु ही मेरे गुरू है और जिनेन्द्र देव द्वारा प्ररूपित धर्म ही प्रमाण है इस प्रकार के अंतरंग प्रतिति पूर्व के दृढ़ निश्चय को सम्यक्त्व कहा गया है।

किन्तु गहन आध्यात्मिक दृष्टि से जिसे निश्चयदृष्टि भी कहा जाता है इस दृष्टि की अपेक्षा शुद्ध आत्मभाव, आत्मस्वरूप की अनुभूति, प्रतीति, रूचि, यथार्थ विश्वास और उसका दृढ़ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के भेद

विभिन्न अपेक्षाओं से सम्यग्दर्शन के निम्नलिखित विविध भेद बताये गये हैं :-

1. **कारक सम्यक्त्व** - इस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव स्वयं तो दृढ़ श्रद्धावान बनकर सम्यक्चारित्र का पालन करता ही है, साथ ही अन्यों को भी प्रेरणा देकर उन्हें भी सदाचरण में प्रवृत्त कराता है।

2. **रोचक सम्यक्त्व** - रोचक सम्यक्त्व सम्यक्बोध की अवस्था है। जिसमें जो जीव शुभ को शुभ और अशुभ को अशुभ रूप में जानता है । श्रद्धा करता है किन्तु तदनुकूल आचारण नहीं कर पाता। चौथे गुणस्थानवर्ती जीव, जो श्रेणिक महाराजा और कृष्ण वासुदेव की भाँति जिन प्ररूपित धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धाशील होते हैं, तन-मन-धन से जिन शासन की उन्नति करते हैं, जो व्रत, प्र ाख्यान करने के प्रति उत्सुक तो होते हैं परन्तु अप्रत्याख्यानावरणीय कर्मोदय से एक नवकारसी .प भी नहीं कर सकते, उनका सम्यक्त्व रोचक सम्यक्त्व कहलाता है।

3. **दीपक सम्यक्त्व** - स्वयं मिथ्यात्वी, अभवी होने पर भी दूसरे जीवों में सम्यक्त्व पैदा करनेवाले का दीपक सम्यक्त्व कहलाता है। जैसे दीपक दूसरों को प्रकाश देता है परन्तु उसके तले अंधेरा बना रहता है। इसी प्रकार जिसके उपदेश से अन्य जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते है, किन्तु स्वयं सम्यक्त्व से, श्रद्धा से वंचित रहता है, ऐसे जीव को उपचार से दीपक सम्यक्त्व वाला कहा जाता है।

4. **औपशमिक सम्यक्त्व** - दर्शन सप्तक (अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माय, लोभ, मिथ्यात्व मोह, मिश्र मोह और सम्यक्त्व मोह) इन कर्म प्रकृतियों के उपशमित (दबाई हुई) होने पर जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्व प्रकट होता है वह औपशमिक सम्यक्त्व है। जैसे एक गिलास में मिट्टी मिला जल भरा है। फिटकडी आदि डालने से मिट्टी नीचे जम जाती है और जल निर्मल दिखाई देने लगता है वही दशा औपशमिक सम्यक्त्व की है।

5. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व - उदय में आये हुए कर्मदलिकों को क्षय कर देना और उदय में न आये हुए कर्मदलिकों को उपशांत कर देने पर जो सम्यक्त्व प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

उपशम सम्यक्त्व में उदय सर्वथा रूक जाता है । न विपाकोदय होता है न प्रदेशोदय। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व एवं मिश्र मोहनीय का विपाकोदय नहीं होता है किन्तु प्रदेशोदय रहता है । सम्यक्त्व मोहनीय का विपाकोदय होता है।

6. क्षायिक सम्यक्त्व - मिथ्यात्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियों का क्षय होने से जो सम्यक्त्व होता वह क्षायिक सम्यक्त्व है। यह आने के बाद जाता नहीं है। क्षायिक समकित वाला जीव उत्कृष्ट 4 या 5 भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

7. वेदक सम्यक्त्व - क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से आगे बढने पर और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माय, लोभ तथा मिथ्यात्व एवं मिश्र मोहनीय का क्षय होने पर समकित मोहनीय के अंतिम पुद्गलों का अनुभव करते समय जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है वह वेदक सम्यक्त्व है।

उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यग्दर्शन के, उसकी उत्पत्ति के आधार पर दस भेद किये गये हैं, जो निम्नलिखित है -

1. निसर्ग रूचि - जो किसी के उपदेश के बिना स्वयं ही अपनी आत्मा से हुए यथार्थ ज्ञान से जीवादि तत्वों को जानता है उसे निसर्ग रूचि सम्यक्त्व कहते हैं।

2. उपदेश रूचि - तीर्थंकर, केवली, गणधर, गुरू आदि से उपदेश प्राप्त कर जीवादि तत्वों पर जो श्रद्धा प्राप्त करता है, उसे उपदेश रूचि सम्यक्त्व कहते है।

3. आज्ञा रूचि - जिनेश्वर भगवान की आज्ञा की आराधना से होने वाली तत्व रूचि को आज्ञा रूचि सम्यक्त्व कहते है।

4. सूत्र रूचि - अंगप्रविष्ट तथा अंगबाह्य श्रुत, शास्त्रों के तन्मयता पूर्वक अध्ययन से जीवादि तत्वों के श्रद्धान रूप होने वाली रूचि सूत्र रूचि सम्यक्त्व है।

5. बीज रूचि - जिस प्रकार जल में तेल की बूंद फैल जाती है, उसी प्रकार जो सम्यक्त्व एक पद (तत्वबोध) से अनेक पदों में फैल जाता है, वह बीज रूप सम्यक्त्व है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6. अभिगम रूचि - आगम सूत्रों को अर्थ सहित अभ्यास करने से जो सम्यक्त्व प्राप्त हो वह अभिगम रूचि सम्यक्त्व है।

7. विस्तार रूचि - छह द्रव्य, नौ तत्व, प्रमाण, नय, निक्षेप आदि का विस्तार पूर्वक अभ्यास करने से होनेवाला सम्यग्दर्शन विस्तार रूचि रूप सम्यक्त्व है।

8. क्रिया रूचि - दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में भावपूर्वक रूचि क्रिया रूचि सम्यक्त्व कहलाता है।

9. संक्षेप रूचि - जिस जीव को बौद्ध, सांख्य आदि अन्य दर्शनों में आग्रह नहीं है तथा वह जैन दर्शन को भी यथार्थ नहीं समझता ऐसे आत्मा को केवल मोक्ष में रूचि हो वह संक्षेप रूचि सम्यक्त्व है।

10. धर्म रूचि - तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित श्रुतधर्म और चारित्रधर्म में श्रद्धा करना धर्मरूचि रूप सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व के लक्षण

असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। जैसे जीव का असाधारण धर्म उपयोग है, क्योंकि वह जीव के सिवाय किसी में भी नहीं मिलता है, अतः वही उसका लक्षण है। इस प्रकार जिन गुणों के कारण सम्यक्त्व पहचाना जाता है अथवा सम्यक्त्वी में ही जो गुण अवश्य पाये जाते हैं वे सम्यक्त्व के लक्षण कहे जाते हैं। वे लक्षण पाँच हैं।

1. शम, 2. संवेग, 3. निर्वेद, 4. अनुकम्पा और 5. आस्तिक्य

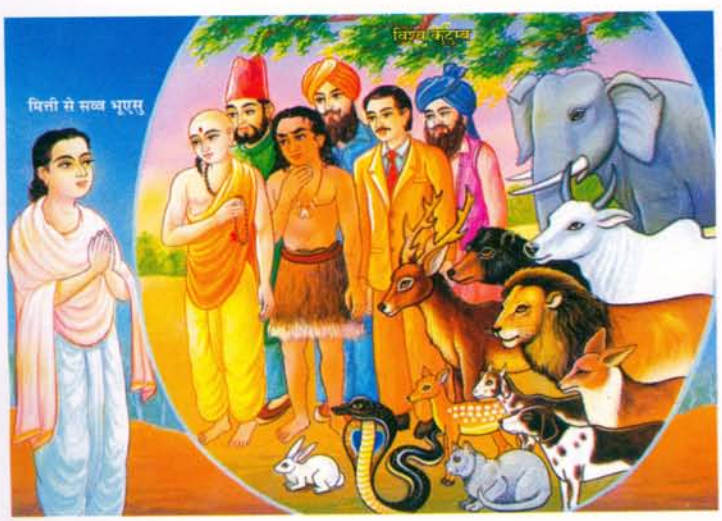

1. शम - सम शब्द के तीन रूप बनते हैं - सम, शम, और श्रम।

सम का अभिप्राय है समता अर्थात् सभी प्राणियों को अपने समान समझना।

सम का दूसरा अर्थ है - चित्त को विचलित नहीं होने देना। सुख-दुख, हानि-लाभ, एवं अनुकूल-प्रतिकूल दोनों स्थितियों में समभाव रखना।

शम का अर्थ है - शांत करना, कषाय या वासनाओं को शांत करना

श्रम का अर्थ है - सम्यक्प्रयास या पुरूषार्थ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3. निर्वेद - निर्वेद का अर्थ है - उदासीनता, वैराग्य, अनासक्ति। जन्म मरणमय समग्र संसार अवस्था के प्रति उदासीन भाव रखना।

5. आस्तिक्य - आस्तिकता का अर्थ है आस्था । जिनेश्वर देव ने जो कुछ भी कहा है, उस पर दृढ़ आस्था रखना, आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष आदि के अस्तित्व को स्वीकार करना आस्तिक्य है।

सम्यक्त्व के पाँच भूषण

जैसे सुन्दर शरीर आभूषणों से अधिक सुन्दर प्रतीत होता है, वैसे ही जिन गुणों के द्वारा सम्यक्त्व विशेष भूषित होता है, सुशोभित होता है वे सम्यक्त्व के भूषण कहे जाते है। शास्त्रकारों ने सम्यक्त्व के पांच भूषण बताये हैं।

1. जिन शासन में कुशलता, 2. प्रभावना, 3. तीर्थसेवा, 4. स्थिरता और 5. भक्ति

1. जिनशासन में कुशलता - धर्म के सिद्धांतों को अच्छी

2. संवेग - मोक्ष की सर्वोच्च अभिलाषा, आत्मा की ओर गति।

4. अनुकम्पा - किसी प्राणी को दुखी देखकर उसके प्रति दया का भाव होना, उसके दुख को दूर करने के लिए निस्वार्थ प्रवृत्ति करना अनुकम्पा है।

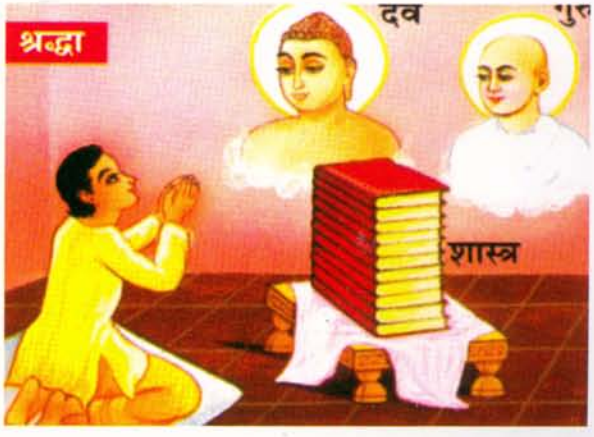

तरह से स्वयं समझना, संघ में कोई समस्या खडी हो तब शास्त्रोक्त नियमानुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का विवेक कर समस्या का सही समाधान करना। अन्य व्यक्ति को भी जिनमार्ग समझाना आदि।

2. प्रभावना - जिन्हें जिनशासन प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे व्यक्ति भी जैन धर्म से प्रभावित हों, ऐसी प्रवृत्ति करना प्रभावना कहलाती है।

3. तीर्थ सेवा - संसार सागर से जो पार उतारे, वे तीर्थ कहलाते हैं। तीर्थ दो प्रकार के हैं - तीर्थंकर परमात्मा की कल्याणक भूमि, प्राचीन जिन मंदिर आदि द्रव्य तीर्थ हैं। इन तीर्थों की यात्रा करने से सम्यग्दर्शन निर्मल बनता है, स्थिर होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के आधारभूत साधु-साध्वी, श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध संघ अथवा गणधर आदि को भाव तीर्थ कहते है। इन दोनों तीर्थों की यात्रा, पूजा, विनय, सेवा आदि करना, उन पर आये संकट दूर करना उनका उत्कर्ष करना तीर्थ सेवा है।

4. स्थिरता - जिन शासन में शंका आदि के कारण किसी का मन जिनधर्म से चलित हो गया हो तो उसे सही समझा बुझाकर, जिन धर्म में पुनः स्थिर करना तथा अन्य दर्शन की ऋद्धि, समृद्धि, चमत्कार आदि देखकर स्वयं का मन चंचल हो गया हो तो उसे स्थिर करना।

5. भक्ति - साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ का विनय-वैय्यावच्च बहुमान आदि करना भक्ति है। रत्नत्रयी के धारक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधु-साध्वी के आगमन पर खड़ा होना, स्वागत के लिए सामने जाना, उनके आने पर हाथ जोडना, उन्हें आसन प्रदान करना, उनके आसन ग्रहण करने पर स्वयं बैठना, उनका विनय, बहुमान आदि करना भक्ति है।

ये पाँच गुण शरीर के भूषणों के समान सम्यक्त्व को शोभायमान करनेवाले होने से श्रेष्ठ समकित भूषण कहलाते हैं।

सम्यक्त्व के पाँच दूषण (अतिचार)

जैसे वात, पित्त, कफ आदि दोषों के उद्‌भव से शरीर रूग्ण होता है, वैसे ही सम्यक्त्व में लगने वाले दोषों से सम्यक्त्व दूषित हो जाता है। ये दूषण पाँच बताये गये हैं -

1. शंका, 2. कांक्षा, 3. विचिकित्सा, 4. मिथ्यादृष्टि प्रशंसा और 5. मिथ्यादृष्टि संस्तव

1. शंका - वीतराग या अर्हत् के कथनों पर शंका करना उनकी यथार्थता के प्रति संदेहात्मक दृष्टिकोण रखना।

2. कांक्षा - अन्य दर्शन के आडम्बर या प्रलोभन से आकर्षित होकर उस दर्शन को स्वीकार करने की इच्छा या आकांक्षा करना।

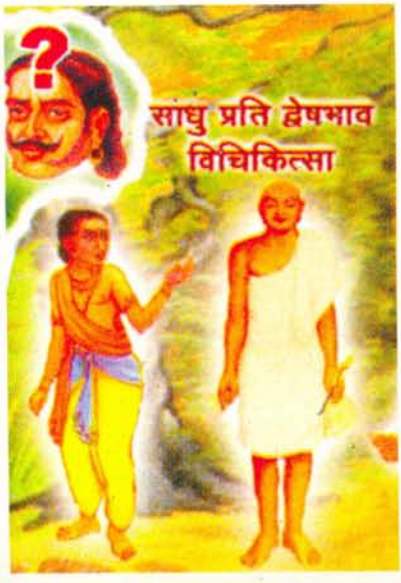

3. विचिकित्सा - धर्म के फल में संदेह करना विचिकित्सा है। धर्म क्रिया करते करते इतना समय हो गया अभी तक तो उसका कोई फल नहीं मिला, क्या पता आगे भी फल मिलेगा या नही? इस प्रकार का मन में विचार करना विचिकित्सा दोष है।

रोगी एवं ग्लान व्यक्तियों के प्रति घृणा रखना तथा पंच महाव्रतधारी महामुनियों के देह की मलिनता आदि देखकर घृणा करना भी विचिकित्सा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4. मिथ्यादृष्टि प्रशंसा - विपरीत दर्शन वाले मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना।

5. मिथ्यादृष्टि का गाढ परिचय - मिथ्यादृष्टियों के साथ में रहना। परस्पर वार्तालाप आदि का व्यवहार बढाकर उनका अति परिचय करना।

सम्यग्दर्शन के आठ दर्शनाचार

उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यग्दर्शन की साधना के आठ अंगों का वर्णन किया गया है।

1. निश्शंकित, 2. नि:कांक्षित, 3. निर्विचिकित्सा, 4. अमूढ दृष्टि, 5. उपवृंहणा, 6. स्थिरीकरण, 7. वात्सल्य और 8. प्रभावना

1. निश्शंकित - जिन वचनों में किसी प्रकार की भी शंका नहीं होने देना।

2. निकांक्षित - अन्य दर्शनों के आडम्बर-वैभव आदि से आकर्षित होकर उन्हें स्वीकार करने की इच्छा न करना अथवा देव, गुरू व धर्म की आराधना के फल स्वरूप किसी भी प्रकार के भौतिक सांसारिक सुखों की इच्छा न करना।

3. निर्विचिकित्सा - निर्विचिकित्सा के दो अर्थ है - धर्म क्रिया के फल के प्रति सन्देह न करना निर्विचिकित्सा आचार है। मैं जो धर्म-क्रिया या साधना कर रहा हूँ, उसका फल मुझे मिलेगा या नहीं मेरी यह साधना व्यर्थ तो नहीं चली जायेंगी ऐसी आशंका रखना। अथवा तपस्वी, साधु-साध्वी के दुर्बल, जर्जर शरीर अथवा मलिन वेशभूषा देखकर घृणा करना निर्विचिकित्सा है।

4. अमूढ़ दृष्टि - अन्य दर्शनो के मंत्र तंत्र चमत्कार आदि बाह्य आडम्बर को देखकर आकर्षित नहीं होना और जैन धर्म के तत्वों को दीर्घदृष्टि व सूक्ष्मबुद्धि से सोचना इत्यादि अमूढ़दृष्टि है।

5. उपवृंहणा - गुणीजनों के गुणों की प्रशंसा करना, उन्हें बढावा देना। उनके प्रति प्रमोद भाव रखना।

6. स्थिरीकरण - सम्यक्त्व अथवा चारित्र से डिगती हुई आत्मा को धर्म में पुनः स्थिर करना।

7. वात्सल्य - धर्म का आचरण करनेवाले समान गुण वाले साथियों के प्रति नि:स्वार्थ स्नेह भाव रखना, जीव मात्र के प्रति करूणा व निजत्व की अनुभूति करना।

8. प्रभावना - वीतराग देव का धर्म अपने स्वयं के गुणों से ही प्रभावपूर्ण होता है । अपने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्ट गुणों से दुष्कर क्रिया, व्रताचरण, अभिग्रह, व्याख्यान शैली, कवित्व शैली, विद्धता आदि से धर्म के प्रभाव में वृद्धि करना और धर्म पर लगाये जाने वाले मिथ्या आरोपों को प्रभावपूर्ण ढंग से खण्डन करना प्रभावना नामक दर्शनाचार है।

उपर्युक्त आठों ही दर्शनाचार के नाम से भी जाने जाते है, इन आठ आचारों के द्वारा सम्यग्दर्शन पुष्ट एवं सुशोभित होता है, अतएव सम्यग्दृष्टि जीवों को इन आचारों का पालन करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन की साधना के छह स्थान

सम्यक्त्व को स्थिर रखने के लिए छह स्थानों का निरूपण किया गया है। वे स्थान इस प्रकार है -

1. आत्मा है
2. आत्मा नित्य है
3. आत्मा अपने कर्मो का कर्त्ता है
4. आत्मा स्वकृत कर्मों का भोक्ता है
5. आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है
6. मुक्ति का उपाय (मार्ग) है।

इन छह स्थानको को विस्तार से समझकर इनका चिन्तन करने से सम्यक्त्व की स्थिरता होती है। अत: सम्यक्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानकर अपने जीवन में से मिथ्यात्व का त्याग कर सभी आत्माएँ क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करें।

* जैन प्रमाण मीमांसा *

जैन दर्शन में ज्ञान का स्वरूप
प्रमाणवाद
नयवाद
निक्षेपवाद
अनेकान्तवाद
स्याद्वाद

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन में ज्ञान का स्वरूप

जैन दर्शन में ज्ञान शब्द की तीन व्युत्पत्तियाँ की गई है -

1. **णाती णाणं** - जानना ज्ञान है

2. **णज्जइ अणेणेति णाणं** - जिससे जाना जाता है वह ज्ञान है।

3. **णज्जति एतम्हि त्ति णाणं** - जिसमें जाना जाता है, वह ज्ञान है।

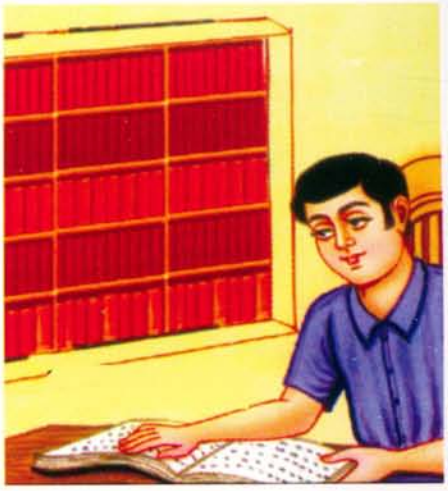

जैन दर्शन में ज्ञान को आत्मा का स्वरूप माना गया है। जो जानता है वह आत्मा है और जो आत्मा है वही जानता है अर्थात् ज्ञान आत्मा का ऐसा धर्म है जो आत्मा को अनात्मा से अलग करता है। आत्मा अपने सहज स्वरूप में अनन्त ज्ञान दर्शन का स्वामी है, अनन्त सुख का निधान है और अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। किन्तु छदमस्थ अवस्था में ये गुण दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। ज्ञान जीव का विशेषण नहीं अपितु स्वरूप है। अतः जीव में यह सामर्थ्य है कि वह संसार के सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों का साक्षात् और यथार्थ रूप में जान सकता है। किन्तु ज्ञानावरणीय कर्मो के कारण उसे आंशिक ज्ञान ही होता है। कर्म रूपी मेघ आत्मरूपी सूर्य को आवृत्त कर देते हैं, पर उनमें वह ताकत नहीं है कि वे जीव ज्ञान रूप स्वभाव को पूर्णतः नष्ट कर सके। जीव के अक्षर के अनन्तवें भाग जितना ज्ञान हमेशा उद्घाटित रहता है। यदि ऐसा न हो तो जीव फिर अजीव बन जायेगा।

ज्ञान स्वभावतः स्व पर प्रकाशक है। जिस प्रकार दीपक अपने आपको प्रकाशित करता हुआ पर पदार्थो को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान अपने आपको जानता हुआ ही पर पदार्थों को भी जानता है। दीपक को देखने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही ज्ञान को जानने के लिए अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान दीपक के समान स्व- और पर का प्रकाशक माना गया है। सारांश यह है कि आत्मा का स्वरूप समझने के लिए ज्ञान का स्वरूप समझना अनिवार्य है। इसलिए ज्ञान का इतना महत्व है।

ज्ञान की परिभाषा

'ज्ञायते - परिच्छिद्यते वस्तु अनेनेति ज्ञानम्।' जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, वह ज्ञान है।

स्व-पर को जानने वाला जीव का परिणाम ज्ञान है।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से होने वाले तत्त्वार्थ बोध को ज्ञान कहते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only

ज्ञान के भेद

नंदी सूत्र में ज्ञान के पाँच भेद कहे गये हैं :-

1. अभिनिबोधक (मतिज्ञान), 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मन:पर्यवज्ञान और 5. केवलज्ञान

नंदी सूत्र में ज्ञान के दो विभाग भी किये गये हैं

1. प्रत्यक्ष और 2. परोक्ष

1. प्रत्यक्ष - प्रति+अक्ष ! अक्ष का अर्थ है आत्मा/जीव। जो ज्ञान सीधे आत्मा से होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

2. परोक्ष - इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

इस दृष्टि से मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष तथा अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आते हैं।

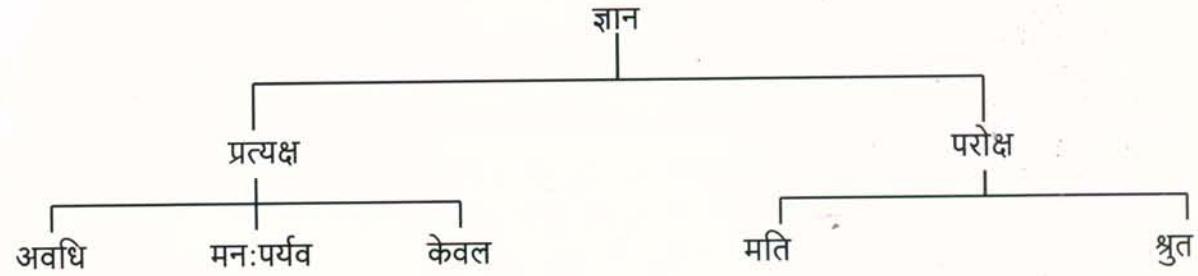

1. मतिज्ञान - आगमों में मतिज्ञान को अभिनिबोधक ज्ञान कहते हैं। पाँच इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से आत्मा द्वारा सामने आये पदार्थों को जान लेने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

मति ज्ञान के मुख्यतः दो भेद हैं

1. श्रुतनिश्रित मतिज्ञान और 2. अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान

1. श्रुतनिश्रित मतिज्ञान - श्रुत-निश्रित वह है जो श्रुत सुनने के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हो। यह ज्ञान पहले पढे हुए या परम्परा से प्राप्त संकेत से प्राप्त होता है।

2. अश्रुत-निश्रित मतिज्ञान - अश्रुत निश्रित वह है जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बिना श्रुत की सहायता के स्वभावरूप से उत्पन्न हो तथा मतिज्ञानावरणीय के विशेष क्षयोपशम से प्राप्त हो। श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के चार प्रकार हैं

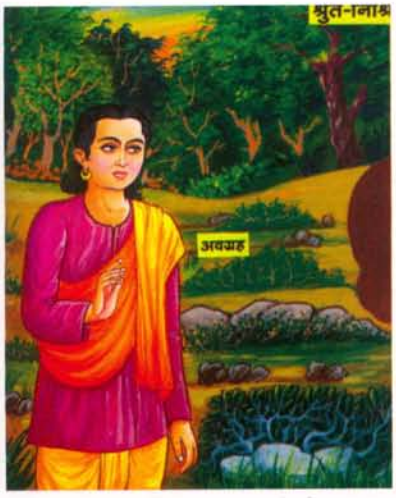

1. **अवग्रह** - नाम जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य रूप वस्तु को ग्रहण करने वाला अव्यक्त ज्ञान अवग्रह कहलाता है। इस ज्ञान में निश्चित प्रतीति नहीं होती कि किस पदार्थ का ज्ञान हुआ है। केवल इतना सा ज्ञात होता है कि ''यह कुछ है।''

इसके दो भेद है - a) व्यंजनावग्रह और b) अर्थावग्रह

व्यंजनावग्रह - इन्द्रियों का पदार्थ के साथ संयोग तथा अव्यक्त, अप्रकट पदार्थ का अवग्रह उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं। जैसे शब्द का कान से टकराना। ''कुछ है यह स्पष्ट निर्णय भी यहाँ नहीं होता।

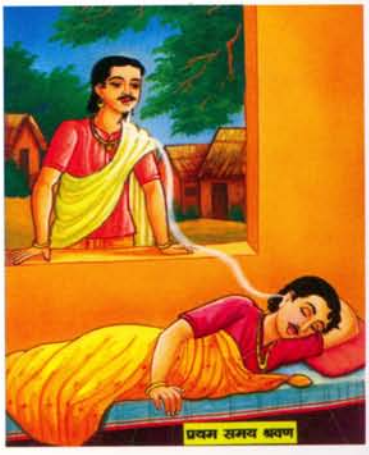

अर्थावग्रह - 'कुछ है' इस प्रकार का ज्ञान। व्यक्त प्रकट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं । जैसे आवाज (शब्दों) को महसूस करना।

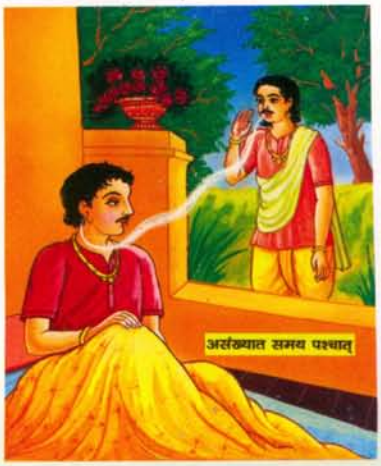

व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह किस प्रकार होते हैं अथवा इन्द्रिय का विषय के साथ सम्पर्क होने पर ज्ञान का क्रम कितने धीरे-धीरे आगे बढता है - इसे समझने के लिए दृष्टांत दिया जाता है।

एक व्यक्ति गहरी नींद में सोया हुआ है। दूसरा व्यक्ति उसे जगाने के लिए बार-बार आवाज देता है। वह सोया हुआ व्यक्ति पहली बार आवाज देने पर नहीं जागता। दूसरी बार आवाज देने पर भी नहीं जागता। इस प्रकार बार-बार आवाज देने पर जब उसके कान उस ध्वनि-पुद्गलों से पूरी तरह भर जाते हैं, तब वह अवबोध सूचक हुं यह शब्द करता है । ध्वनि-पुद्गलों से कान के आपूरित होने में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

असंख्य समय लगता है। इन्द्रिय और विषय का यह असंख्य समयवाला प्राथमिक संबंध व्यंजनावग्रह है। इसके पश्चात् व्यंजनावग्रह से कुछ ज्यादा व्यक्त किंतु फिर भी अव्यक्त 'शब्द' का ग्रहण अर्थावग्रह है। अर्थावग्रह को अव्यक्त इसलिए कहा जाता है कि इसमें भी जाति, गुण, द्रव्य की कल्पना से रहित वस्तु का ग्रहण यानि बोध होता है।

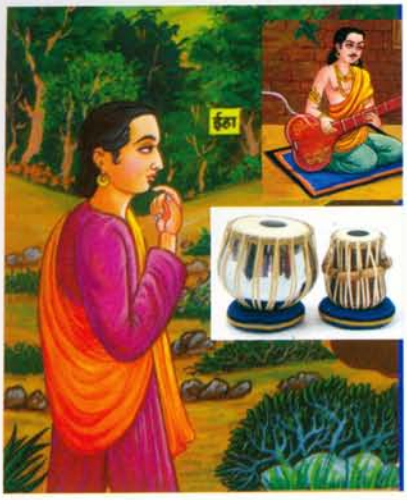

2. ईहा - ईहा शब्द का सामान्य अर्थ है - चेष्टा या इच्छा। अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानने की चेष्टा करना कि जो शब्द सुने हैं वो किसके हैं - तबले के हैं या वीणा के। मृदु शब्द है इसलिए शायद वीणा के होने चाहिए।

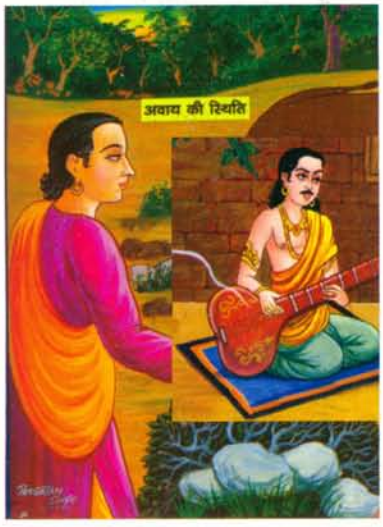

3. अपाय - ईहा के द्वारा जाने हुए पदार्थ का निश्चय हो जाना कि ये शब्द वीणा के ही हैं। ईहा में ये शब्द वीणा के होने चाहिए इस प्रकार ज्ञान होता है जबकि अपाय में यह वीणा के ही है इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान होता है।

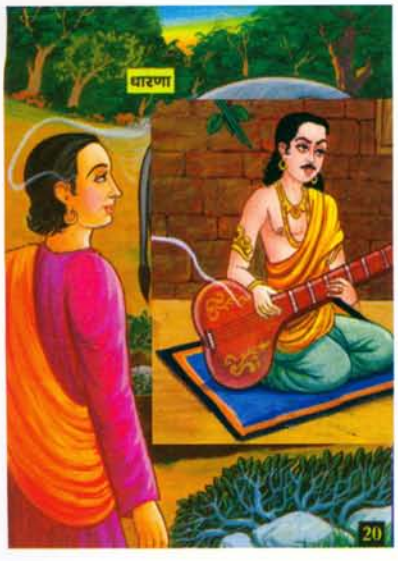

4. धारणा - अवग्रह, ईहा, अपाय द्वारा प्राप्त ज्ञान स्मृति में संजोकर रख लेना, कालान्तर में कभी भी विस्मृत न होने देना धारणा है। जैसे जब-जब वैसी आवाज आवे तो ये वीणा की आवाज है यह निर्णय पूर्व की धारणा के आधार से ही होती है।

मतिज्ञान के 28 प्रकार है।

अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणा ये चारों पाँच इन्द्रिय और मन इन छह से होते हैं, अत: इनके 4 × 6 = 24 भेद होते हैं।

व्यंजनावग्रह मन और चक्षु को छोड़कर चार इन्द्रियों से होता है इसलिए उसके चार भेद हैं

24+4=28

तत्वार्थ सूत्र में इन 28 भेदों के साथ प्रत्येक ज्ञान के फिर निम्नलिखित बारह भेद बताए गये हैं। 28 × 12 = 336 भेद होते हैं।

For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1. **बहु** - दो या दो से अधिक पदार्थ का ज्ञान।

2. **अल्प** - एक वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान।

3. **बहुविध** - अनेक जातियों का अवग्रहादि । जैसे हापुस, लगडा, केसरी आम।

4. **एकविध** - एक जाति का अवग्रहादि । जैसे एक जाति का आम, लंगडा

बहु - अल्प का तात्पर्य वस्तु की संख्या से है और बहुविध, एक विध का तात्पर्य प्रकार या जाति से है।

5. **क्षिप्र** - क्षयोपशम की निर्मलता से शब्दादि का शीघ्र ग्रहण करना।

6. **अक्षिप्र** - शब्द आदि को विलम्ब अथवा देरी से ग्रहण करना।

7. **अनिश्रित** - वस्तु को बिना चिन्हों के ही जानने की क्षमता रखना।

8. **निश्रित** - किसी पदार्थ को उसके चिन्हों से जानना।

9. **असंदिग्ध** - पदार्थ का संशय रहित ज्ञान।

10. **संदिग्ध** - वस्तु को जानने में संशय रह जाना।

असंदिग्ध और संदिग्ध को अनिश्चित और निश्चित भी कहा जाता है।

11. **ध्रुव** - जो मतिज्ञान एक बार ग्रहण किये हुए अर्थ को सदा के लिए स्मृति में धारण किये रहे।

12. **अध्रुव** - जो ज्ञान सदा काल स्मरण न रहे, विस्मृत हो जाए।

इस प्रकार श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के 336 होते है।

अश्रुत निश्रित मतिज्ञान के चार भेद हैं

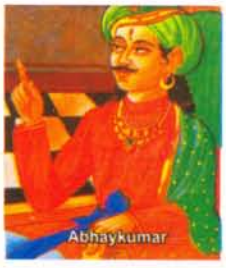

1. **औत्पत्तिकी बुद्धि** - जिस बुद्धि के द्वारा पूर्व में जिसे कभी देखा नहीं, जिसके विषय में कभी सुना नहीं, उस विषय को स्वाभाविक सूझ के रूप में ग्रहण करने में निपुण बुद्धि, औत्पत्ति की बुद्धि है।

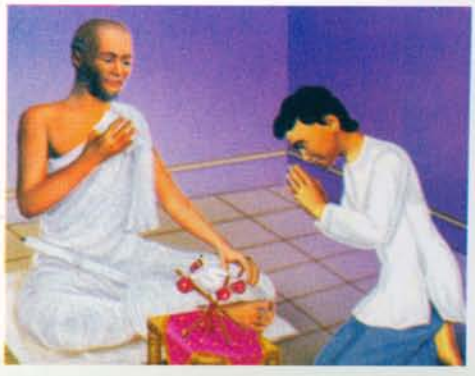

2. **वैनयिकी बुद्धि** - विनय से उत्पन्न बुद्धि अर्थात गुरूजनों आदि की सेवा से प्राप्त बुद्धि वैनयिकी बुद्धि है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3. कर्मजा बुद्धि - काम करते करते अभ्यास की पटुता से होने वाली बुद्धि कर्मजा बुद्धि है।

4. पारिणामिकी बुद्धि - अवस्था अनुभव से प्राप्त होनेवाली बुद्धि वह पारिणामिकी बुद्धि है।

इस प्रकार मतिज्ञान के कुल 336 +4 = 340 भेद हुए है।

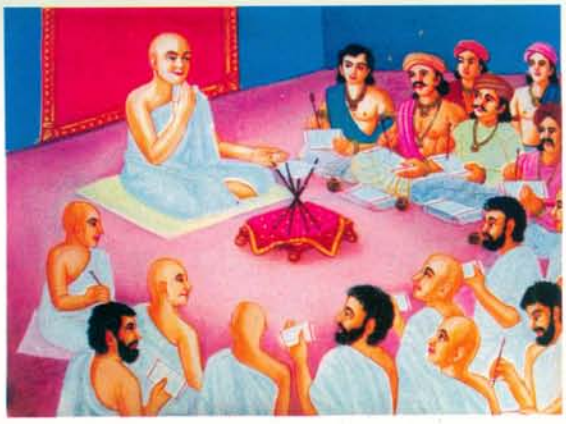

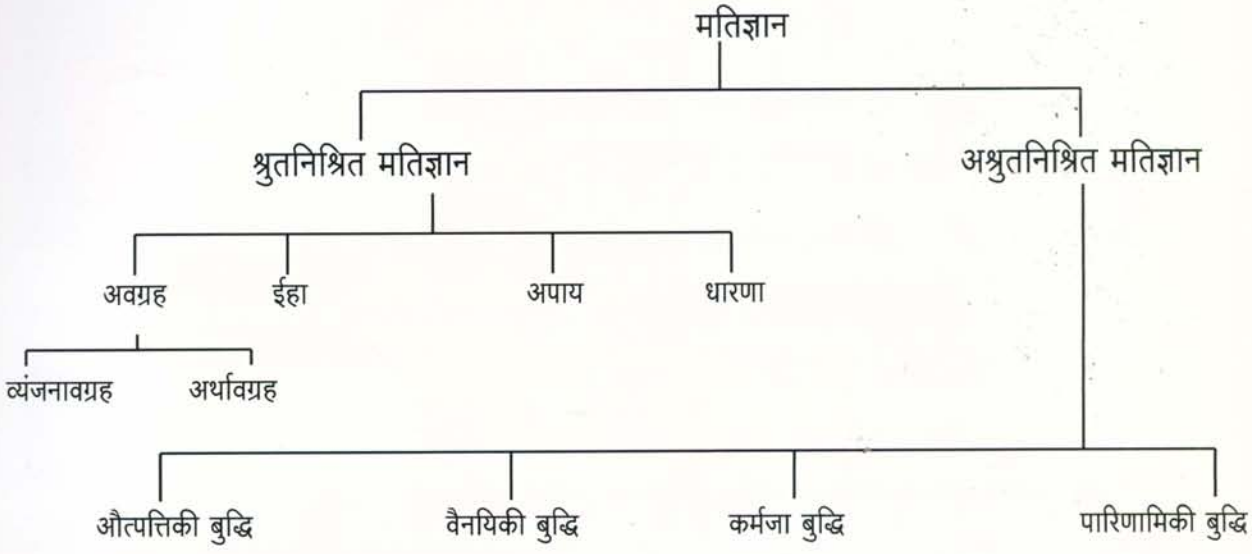

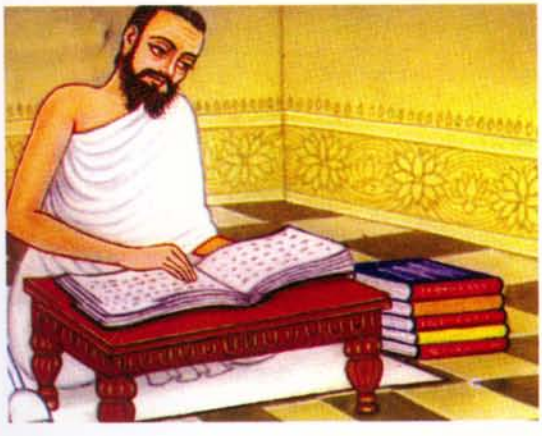

2. श्रुतज्ञान

शब्द, संकेत या शास्त्र आदि के माध्यम से जो अर्थ ग्रहण किया जाता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। शब्द आदि सुनना या संकेत आदि देखना मतिज्ञान है लेकिन शब्द संकेत आदि निमित्त से अर्थ का बोध होना श्रुतज्ञान है। जैसे कोई अंग्रेजी में कुछ गा रहा है उसे हम समझते नहीं फिर भी शब्द तो कानों को टकराते है लेकिन जब तक उसका अर्थ बोध नहीं होता तब तक मतिज्ञान और अर्थ का बोध होने पर श्रुतज्ञान होता है। इसलिए मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाँच ज्ञान के अंतर्गत श्रुतज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। पाँच ज्ञान में चार ज्ञान स्वार्थ हैं अर्थात् अपने लिए उपयोगी हैं तथा एक श्रुतज्ञान वचनात्मक होने से परार्थ है। जिस प्रकार दीपक स्व-पर प्रकाशी होता है, वह अपने आपको भी प्रकाशित करता है और घट-पट आदि पर पदार्थों को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार श्रुतज्ञान अपने लिए भी उपयोगी है और दूसरों के लिए भी उपयोगी है।

पांच ज्ञानों में यही एक ऐसा ज्ञान है, जो ज्ञान-दान का साधन बनता है। शास्त्रों में कहा गया है कि गुरू द्वारा शिष्यों को जो ज्ञान मिलता है, वह श्रुतज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। केवलज्ञानी भी यदि किसी को ज्ञानदान करते हैं तो श्रुतज्ञान यानि वचनों के आलंबन के द्वारा ही करते हैं। दूसरों को पढ़ाने में उनका केवलज्ञान काम नहीं आता। केवलज्ञान तो दर्पण के समान है। उसमें सब कुछ प्रत्यक्ष दिखता है। पर जहाँ दूसरों को बताने का प्रश्न है, वहाँ तो श्रुतज्ञान का ही एकमात्र सहारा लेना होता है। इसलिए पाँचों ज्ञानों में किसी अपेक्षा से श्रुतज्ञान का महत्व अधिक है। इसे हम समझें और अधिकाधिक विकसित करने का प्रयास करें।

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान के चौदह भेद हैं -

1. अक्षरश्रुत, 2. अनक्षरश्रुत, 3. संज्ञिश्रुत, 4. असंज्ञिश्रुत, 5. सम्यक्श्रुत, 6. मिथ्याश्रुत, 7. सादिश्रुत, 8. अनादिश्रुत, 9. सपर्यवसितश्रुत, 10. अपर्यवसितश्रुत, 11. गमिकश्रुत, 12. अगमिकश्रुत, 13. अंगप्रविष्टश्रुत और 14. अनंगप्रविष्टश्रुत।

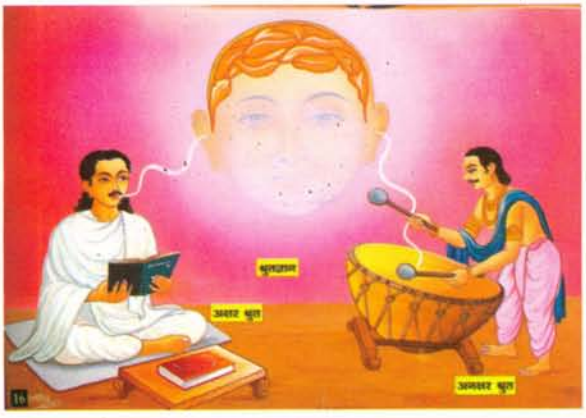

1. अक्षरश्रुत - अक्षर रूप ज्ञान को अक्षर श्रुत कहते हैं । इसके तीन भेद हैं।

a) संज्ञाक्षरश्रुत, b) व्यंजनाक्षर श्रुत, c) लब्ध्यक्षर श्रुत।

a) संज्ञाक्षर श्रुत - अक्षर की आकृति बनावट या संस्थान को संज्ञाक्षर कहते हैं। उदाहरण स्वरूप अ, आ, इ, ई अथवा A,B,C,D आदि लिपियाँ अन्य भाषाओं की भी जितनी लिपियाँ हैं, उनके अक्षर भी संज्ञाक्षर समझना चाहिए।

b) व्यंजनाक्षर श्रुत - जो मुख से उच्चारित हो वह व्यंजनाक्षर है। व्यंजन का मतलब व्यक्त करना है। जब अकार, इकार आदि शब्दों का उच्चारण किया जाता है तब उससे अर्थ की अभिव्यंजना होती है अत: इसका नाम व्यंजनाक्षर है।

c) लब्ध्यक्षर श्रुत - शब्द ग्रहण होने के पश्चात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो उसके अर्थ के पर्यालोचन के अनुसार ज्ञान उत्पन्न होता है उसे लब्ध्यक्षर कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2. अनक्षरश्रुत - अक्षरों के बिना शरीर की चेष्टा आदि से होनेवाला ज्ञान अनक्षरश्रुत कहलाता है। जैसे सांस लेना, सांस छोड़ना, थूकना, खांसना एवं ऊँ-ऊँ आदि चेष्टा करना। इन चेष्टाओं में अक्षरों का उच्चारण न होते हुए भी इनके द्वारा दूसरों के भाव जाने जाते हैं तथा अपने भाव दूसरों को जताये जाते हैं, जैसे लंबे और भारी सांस लेने से मानसिक दुख या श्वास का रोग जताया जाता है तथा खांसकर अपने आगमन की सूचना दी जाती है। हाथ, पैर एवं नेत्र के इशारे भी इसी प्रकार समझ लेने चाहिए। यह सारा अनक्षरश्रुत है।

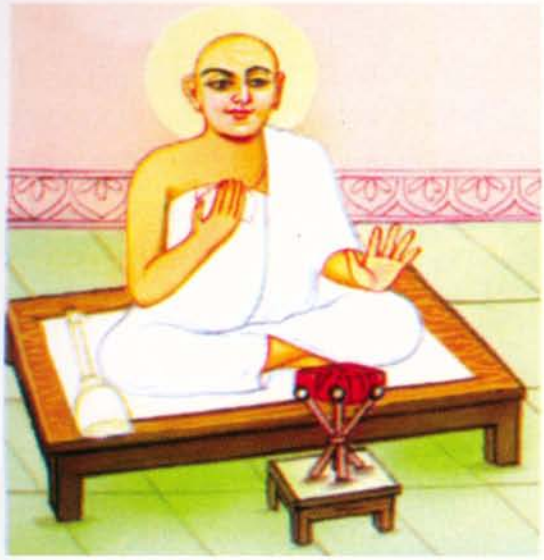

3. संज्ञीश्रुत - संज्ञी अर्थात् सोचने-विचारने की शक्ति जिस जीव में हो, उसे संज्ञी कहते हैं। संज्ञी जीवों का जो श्रुत ज्ञान है, उसे संज्ञीश्रुत कहते हैं। संज्ञी जीव तीन प्रकार के होते हैं -

a) कालिक्यूपदेश संज्ञी - भूतकाल का स्मरण, अनागत का चिन्तन और वर्तमान काल की प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यापार जिस संज्ञा द्वारा होती है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा कहलाती है।

b) हेतुपदेशिकी संज्ञा - केवल वर्तमान की दृष्टि से हिताहित का विचार करना हेतुपदेशिकी संज्ञा है।

c) दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा - सम्यक् श्रुत के ज्ञान के कारण हिताहित का बोध होना दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा है।

4. असंज्ञी श्रुत - बिना मन वाले जीवों में जो अव्यक्त ज्ञान है, वह असंज्ञीश्रुत कहलाता है। मक्खी, मच्छर, भ्रमर आदि के गूंजन के शब्द भी इसी में समझने चाहिए। पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव यद्यपि बिल्कुल मूर्च्छित दशा में हैं, फिर भी उनमे आहार ग्रहण करने आदि का जो ज्ञान है, वह भी असंज्ञीश्रुत ही है।

5. सम्यक् श्रुत - केवलज्ञान और केवलदर्शन युक्त श्री अरिहंत भगवान ने आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंग बताये हैं। उन अंगों (शास्त्रों) का ज्ञान सम्यक् श्रुत तथा चौदह पूर्वधारी से लेकर

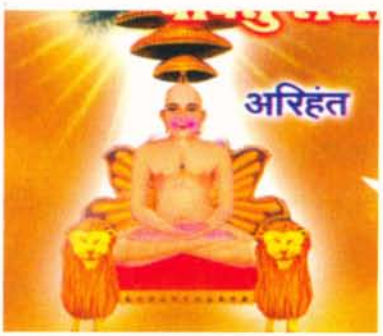

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दसपूर्वधारी मुनि अवश्य समकित होने से उनके द्वारा निर्मित शास्त्र भी सम्यक्श्रुत ही हैं। दस पूर्व से कम ज्ञान वालों का कथन सम्यक् श्रुत भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता। यदि वह शास्त्रों से अविरूद्ध है तो सम्यक् श्रुत और विरूद्ध है तो मिथ्याश्रुत है।

6. मिथ्या श्रुत - अल्पबुद्धि वाले मिथ्यादृष्टियों द्वारा अपनी इच्छानुसार बुद्धि की कल्पना से रचे हुए,गुमराह करने वाले ग्रंथ मिथ्याश्रुत हैं।

7. सादिश्रुत - जिस श्रुत की आदि-प्रारम्भ हो, वह सादिश्रुत है।

8. अनादि श्रुत - जिस श्रुत की आदि न हो वह अनादि श्रुत है।

9. सपर्यवसित श्रुत - जिस श्रुत का अन्त हो, उसे सपर्यवसित कहते हैं।

10. अपर्यवसित श्रुत - जिस श्रुत का अन्त न हो, उसे अपर्यवसित कहते हैं।

11. गमिक श्रुत - जिन शास्त्रों में पाठ सरीखे (एक जैसे) होते हैं, वे गमिक श्रुत कहलाते हैं। इसमें आदि मध्य या अन्त में कुछ परिवर्तन के साथ शेष सारा पाठ एक जैसा होता है।

12. अगमिक श्रुत - जिन शास्त्रों के पाठ एक सरीखे नहीं होते हैं, वे अगमिक श्रुत कहलाते हैं।

13. अंगप्रविष्ट श्रुत - तीर्थंकर परमात्मा अर्थ रूप उपदेश देते हैं। उस अर्थ रूप उपदेश को गणधर सूत्र रूप में गूंथते है,वे सूत्र अंगप्रविष्ट श्रुत कहलाते हैं।

14. अनंगप्रविष्ट श्रुत - भगवान की वाणी के आधार पर विशिष्ट ज्ञानी आचार्य, स्थविर आदि जो कम से कम दस पूर्वधारी हों, वे जो ग्रंथ की रचना करते हैं वे अनंगप्रविष्ट कहलाते हैं।

अवधिज्ञान

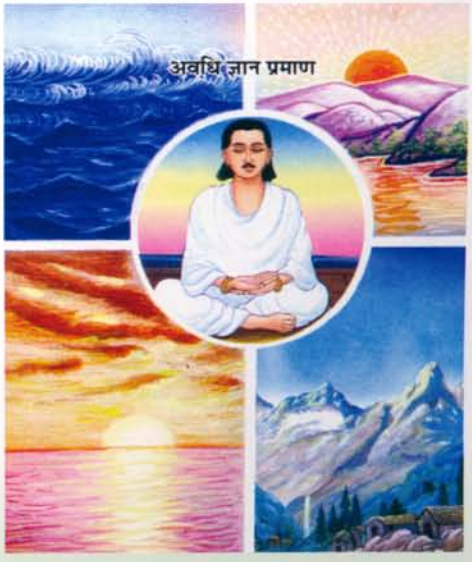

अवधि का अर्थ है - सीमा, मर्यादा। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय और मन की सहायता बिना सीधे आत्मा के द्वारा मात्र रूपी पदार्थों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है।

अवधिज्ञान के भेद -

अवधिज्ञान के मुख्य दो प्रकार हैं :-

1. भव प्रत्यय अवधिज्ञान और 2. क्षयोपशमिक या गुणप्रत्यय अवधिज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1. भवप्रत्यय अवधिज्ञान - जिस अवधिज्ञान के क्षयोपशम में भव (जन्म) निमित्त बनता है अर्थात् जो जन्म के साथ ही साथ प्रकट होता है, वह भव प्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। देवगति और नरकगति में पैदा होनेवाले प्राणियों को यह ज्ञान जन्म से ही प्राप्त होता है। उन्हें भी यह ज्ञान प्राप्त तो क्षयोपशम से ही होता है पर उस क्षयोपशम के लिए उन्हें कोई प्रयत्न या पुरूषार्थ नहीं करना पडता। नरक और देव में उत्पन्न होने मात्र से ही उनका वैसा क्षयोपशम हो जाता है।

तीर्थंकर बनने वाले जीव को अवधिज्ञान भव प्रत्यय ही होता है। यद्यपि तीर्थंकर मनुष्य होते हैं और मनुष्यों को होनेवाला अवधिज्ञान पुरूषार्थसापेक्ष होता है जन्मजात नहीं, फिर भी तीर्थंकर इस विषय में अपवाद होते हैं, क्योंकि वे गर्भ से ही तीन ज्ञान (मति, श्रुत और अवधि) से युक्त होते हैं।

2. क्षयोपशमिक (गुणप्रत्यय) अवधिज्ञान - अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो अवधिज्ञान प्राप्त होता है, वह क्षयोपशमिक या गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। यह मनुष्य और तिर्यंच गति में होता है। यह अवधिज्ञान जन्मजात नहीं होता।

इस अवधिज्ञान के छ प्रकार हैं

1. अनुगामी अवधिज्ञान - जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्ति क्षेत्र को छोडकर दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी विद्यमान रहता है, जो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अथवा एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते समय अपने स्वामी के पीछे-पीछे अनुगमन करे उसे अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे चलते हुए व्यक्ति के साथ नेत्र, सूर्य के साथ आतप धूप तथा चन्द्र के साथ चाँदनी रहती है, इसी तरह जो निरन्तर ज्ञानी के साथ-साथ रहे, वह अनुगामी अवधिज्ञान है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2. अनानुगामी अवधिज्ञान - जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है, उसी स्थान पर स्थित होकर पदार्थ को देख सकता है, उस क्षेत्र को छोडकर अन्यत्र जाने पर साथ-साथ नहीं जाता वह अनानुगामी अवधिज्ञान कहलाता है। जैसे दीपक जहाँ स्थित हो वहीं से वह प्रकाश प्रदान करता है, पर किसी प्राणी के साथ नहीं चलता। वैसे यह अननुगामी अवधिज्ञान जहाँ उत्पन्न हुआ है वहीं रहकर जान सकता है अन्यत्र नहीं।

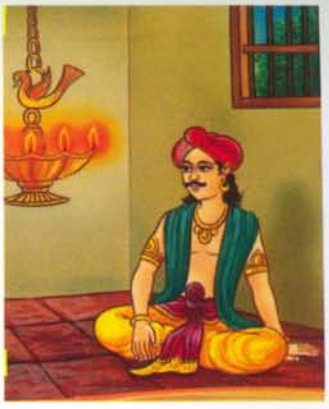

3. वर्धमान अवधिज्ञान - जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद बढता रहता है वह वर्धमान अवधिज्ञान है। जैसे जैसे अग्नि में ईंधन डाला जाता है वैसे-वैसे वह अधिकाधिक प्रज्वलित होती है तथा उसका प्रकाश भी बढ़ता जाता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों परिणामों में विशुद्धि बढ़ती जाती है त्यों-त्यों अवधिज्ञान के माध्यम से देखे जा सकने वाले क्षेत्र और काल भी वृद्धि प्राप्त होते जाते है।

4. हीयमान अवधिज्ञान - जो अवधिज्ञान उत्पन्न होने के बाद घटता रहता है वह हीयमान अवधिज्ञान है। जिस प्रकार घी ईंधन आदि के अभाव में आग धीरे धीरे मंद पड जाती है। उसी प्रकार परिणामों में अशुद्धता बढ़ती जाने पर अवधिज्ञान भी हीन हो जाता है।

5. प्रतिपाति अवधिज्ञान - जैसे तेल के समाप्त हो जाने पर दीपक प्रकाश देते देते एकदम बुझ जाता है वैसे ही जो अवधिज्ञान प्राप्त होने के कुछ समय बाद एकदम लुप्त (नष्ट) हो जाता है वह प्रतिपाति अवधिज्ञान है।

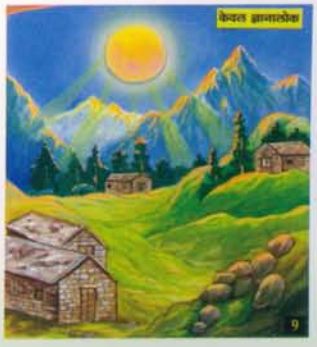

6. अप्रतिपाति अवधिज्ञान - जो अवधिज्ञान केवलज्ञान उत्पन्न होने तक रहता है अर्थात् विनष्ट नहीं होता वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only

मन:पर्यवज्ञान

मन:पर्यवज्ञान का अर्थ है - प्राणियों के मन के चिन्तित अर्थ को जानने वाला ज्ञान। अढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जानने वाल ज्ञान मन:पर्यवज्ञान है। यह ज्ञान मनुष्य गति के अतिरिक्त अन्य किसी गति में नहीं होता है। संयम की विशुद्धि से ही यह ज्ञान प्राप्त होता है। जो संयमी हो, उन्हें भी सबको नहीं होता, अपितु जो अप्रमत्त संयमी हो और उनमें भी जो विविध प्रकार के ऋद्धियों से सम्पन्न हो अर्थात् जो पूर्वों के ज्ञान के धारक, आहारकलब्धि, वैक्रियलब्धि, तेजोलेश्या, जंघाचारण, विद्याचरण आदि विशिष्ट ऋद्धियुक्त लब्धियों में से किन्हीं लब्धियों से युक्त हो, उन्हें ही मन:पर्यव ज्ञान होता है।

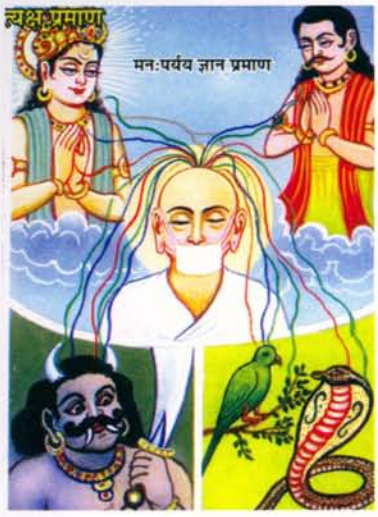

मन एक प्रकार का पौद्गलिक द्रव्य है। जब व्यक्ति किसी विषय विशेष का विचार करता है तब उसका मन नाना प्रकार की पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। मन:पर्यवज्ञानी मन की उन विविध पर्यायों को आत्मा के द्वारा जान लेता है कि व्यक्ति इस समय यह चिंतन कर रहा है। यह ज्ञान मनपूर्वक नहीं होता किन्तु आत्मपूर्वक होता है।

मन:पर्यवज्ञान के भेद

इसके दो भेद हैं - 1. ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान 2. विपुलमति मन:पर्यवज्ञान

a) ऋजुमति - दूसरे के मनोगत भावों को सामान्य रूप से जानना ऋजुमति मन:पर्यवज्ञान कहलाता है। जैसे कोई व्यक्ति घट के बारे में चिंतन कर रहा है तो ऋजुमति मन:पर्यवज्ञानी यह तो जान लेता है अमुक व्यक्ति घट का चिंतन कर रहा है पर वह यह नहीं जान पाता है कि घट का आकार क्या है, किस द्रव्य से बना हुआ है, मिट्टी से बना हुआ है या सोने से बना हुआ है आदि आदि। यह ज्ञान आने के बाद विलुप्त भी हो सकता है।

b) विपुलमति - दूसरे के मनोगत भावों को विशेष रूप से जानना विपुलमति मन:पर्यवज्ञान कहलाता है। जैसे किसी व्यक्ति ने घट के बारे में चिंतन किया तो विपुलमति मन:पर्यवज्ञानी केवल घट मात्र को नहीं जानेगा अपितु उसके देश, काल आदि अनेक पर्यायों को भी जान लेगा। इस व्यक्ति ने जिस घट का चिंतन किया है वह सोने से बना हुआ है, राजस्थान में बना हुआ है आदि-आदि।

इस प्रकार विपुलमति का क्षयोपशम इतना विशिष्ट होता है कि यह अचिंतित या अर्धचिंतित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मनोभावों को भी जान लेता है तथा अतीत में किये गये विचार को, भविष्य में किये जाने वाले विचार को तथा वर्तमान में किये जा रहे विचार को, सबको अपना विषय बनाता है। अत: यह त्रिकालगत रूपी पदार्थ को जानता है। यह ज्ञान आने के बाद विनष्ट नहीं होता है। विपुलमति मन:पर्यवज्ञानी उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करता है।

केवलज्ञान

केवलज्ञान - केवल शब्द के विभिन्न अर्थों से इस ज्ञान का समग्र अर्थ समझा जा सकता है। इन अर्थों के आधार पर संक्षेप में व्याख्या इस प्रकार है -

केवल का अर्थ है एक जिसके उत्पन्न होने से उपर्युक्त चारों ज्ञान इस एक मात्र ज्ञान में विलीन हो जायें, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

केवल का अर्थ है असहाय-पर की सहायता से निरपेक्ष-जो ज्ञान इन्द्रिय, मन, देह आदि की सहायता के बिना रूपी-अरूपी सभी वस्तुओं तथा विषयों को प्रत्यक्ष कर देता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

केवल का अर्थ है विशुद्ध। चारों क्षायोपशमिक ज्ञान शुद्ध हो सकते हैं किन्तु विशुद्ध नहीं। विशुद्ध एक केवलज्ञान ही होता है। अन्य चारों ज्ञान कषाय के अंश सहित होते हैं किन्तु केवलज्ञान कषाय रहित होता है।

केवलज्ञान का अर्थ है-परिपूर्ण। क्षायोपशमिक ज्ञान किसी भी पदार्थ के सभी पर्यायों को नहीं जान सकते हैं। जो समस्त द्रव्यों के समस्त पर्यायों को जान सके ऐसा परिपूर्ण ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है।

केवल का अर्थ है अनन्त। जो अन्य सभी प्रकार के ज्ञानों से श्रेष्ठतम व सीमा रहित है, अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति वाला है तथा उत्पन्न होने पर कभी नष्ट नहीं होता, उसे केवलज्ञान कहते हैं। केवल का अर्थ है निरावरण जिस ज्ञान पर कैसा भी, कोई भी आवरण नहीं हो, जो नित्य और शाश्वत हो व ज्ञानावरणीय कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से उत्पन्न हो वह केवलज्ञान है।

एक जीव को एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान हो सकते हैं। यदि
यदि 1 ज्ञान हो तो - केवलज्ञान
यदि 2 ज्ञान हो तो - मति और श्रुत ज्ञान
यदि 3 ज्ञान हो तो - मति, श्रुत और अवधि या मति, श्रुत और मन:पर्यव
यदि 4 ज्ञान हो तो - मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यव ज्ञान होते हैं।

एक ही साथ पाँच ज्ञान किसी को नहीं होते है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञान

अज्ञान के दो अर्थ हैं।

1. एक तो नहीं जानने का नाम अज्ञान है, जो ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है। ज्ञान का अभाव होना अज्ञान है।

2. दूसरा, मिथ्यात्वी व्यक्ति जो जानता है उसमें हित-अहित का विवेक न होने से उसका नाम भी अज्ञान है। अतः मिथ्यात्वी व्यक्ति के ज्ञान को भी अज्ञान कहा गया है। यह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होता है।

जैन दर्शन में ज्ञान और अज्ञान का अन्तर पात्रता के आधार पर किया गया है। सम्यग् दृष्टि के ज्ञान को ज्ञान माना गया है और वही ज्ञान यदि मिथ्यादृष्टि के पास है तो उसे अज्ञान माना गया है। यह अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म का उदय नहीं, अपितु क्षयोपशम ही है।

अज्ञान के प्रकार

अज्ञान के तीन प्रकार हैं - 1. मति अज्ञान 2. श्रुत अज्ञान 3. विभंग अज्ञान

1. मति अज्ञान - मिथ्यादृष्टियों को इन्द्रियों और मन की सहायता से जो बुद्धि संबंधी ज्ञान उत्पन्न होता है, वह मति अज्ञान है। इसके भी मतिज्ञान की तरह अवग्रह, ईहा, अपाय, धारणा ऐसे चार भेद है।

2. श्रुत अज्ञान - द्रव्य श्रुत के सहारे से मति अज्ञान जब दूसरों को समझाने लायक हो जाता है तब वही श्रुत अज्ञान कहलाने लगता है। इसका विवेचन श्रुतज्ञान के समान ही है। इसमें सम्यक्श्रुत को न लेकर मिथ्यादृष्टियों द्वारा रचित लौकिक शास्त्रों को ग्रहण किया गया है।

3. विभंग अज्ञान - सर्वज्ञभाषित तत्वों के प्रति विरूद्ध श्रद्धा रखने वाले मिथ्यादृष्टियों का अवधिज्ञान विभंग अज्ञान कहलाता है। यह नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन सभी गतियों में हो सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान पाँच है तो अज्ञान तीन ही क्यों?

मनःपर्यव अज्ञान और केवल अज्ञान क्यों नहीं होता?

इसका समाधान यही है कि मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान मात्र सम्यगदृष्टि व्यक्ति को ही प्राप्त होते हैं, मिथ्यादृष्टि को नहीं। जबकि मति, श्रुत और अवधि तीनों ज्ञान मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि दोनों को समान रूप से प्राप्त होता है। इस दृष्टि से मनःपर्यव अज्ञान और केवल अज्ञान नहीं होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण

जैन दर्शन के अनुसार तत्त्व या पदार्थ का ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा होता है जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है -

''**प्रमाण नयैरधिगम**'' प्रमाण और नय के द्वारा तत्त्वों का अधिगम (ज्ञान) होता है, अर्थात् तत्त्वों का अधिगम करने के लिए प्रमाण और नय उपाय भूत है।

प्रमाण शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक मा धातु में 'ल्युट' प्रत्यय जुड़कर बना है, जिसका अर्थ हुआ प्रकृष्ट रूप अर्थात् संशय, विपर्यय से रहित भाव से पदार्थ का जो मान (ज्ञान) किया जाता है, वह प्रमाण है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ग्रंथ न्यायावतार में प्रमाण को परिभाषित करते हुए कहा है - ''**प्रमाणं स्वपरावभासि ज्ञानं बाधाविवर्जितमन**''। ''स्व'' अर्थात अपने और 'पर' अर्थात् अन्य पदार्थ को जानने वाला तथा बाधा से रहित, निर्दोष ज्ञान प्रमाण है।

प्रमाण में पदार्थ का सम्यक् निर्णय या निश्चय होता है। इसलिए प्रमाण को सम्यक् ज्ञान भी कहा जाता है। मिथ्या ज्ञान कभी भी प्रमाण नहीं होता। प्रमाण का क्षेत्र नय से व्यापक होता है। नय वस्तु के अनेक गुणों में एक गुण द्वारा वस्तु का बोध कराता है, जबकि प्रमाण वस्तु के अनेक गुणों द्वारा वस्तु का बोध कराता है। नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है और प्रमाण अनेक दृष्टियों से। दूसरों शब्दों में नय प्रमाण का एक अंश मात्र है और प्रमाण अनेक नयों का समूह है।

प्रमाण के भेद प्रमाण के मुख्य दो भेद है - 1. प्रत्यक्ष और 2. परोक्ष।

यद्यपि प्रमाण के चार भेद भी प्ररूपित है - 1. प्रत्यक्ष, 2. परोक्ष, 3. अनुमान और 4. आगम। किन्तु इन चारों का समावेश उपरोक्त दो भेदों में हो जाता है।

प्रमाण और प्रमाण के भेदों को निम्न चार्ट के माध्यम से अच्छी तरह समझा जा सकता है-

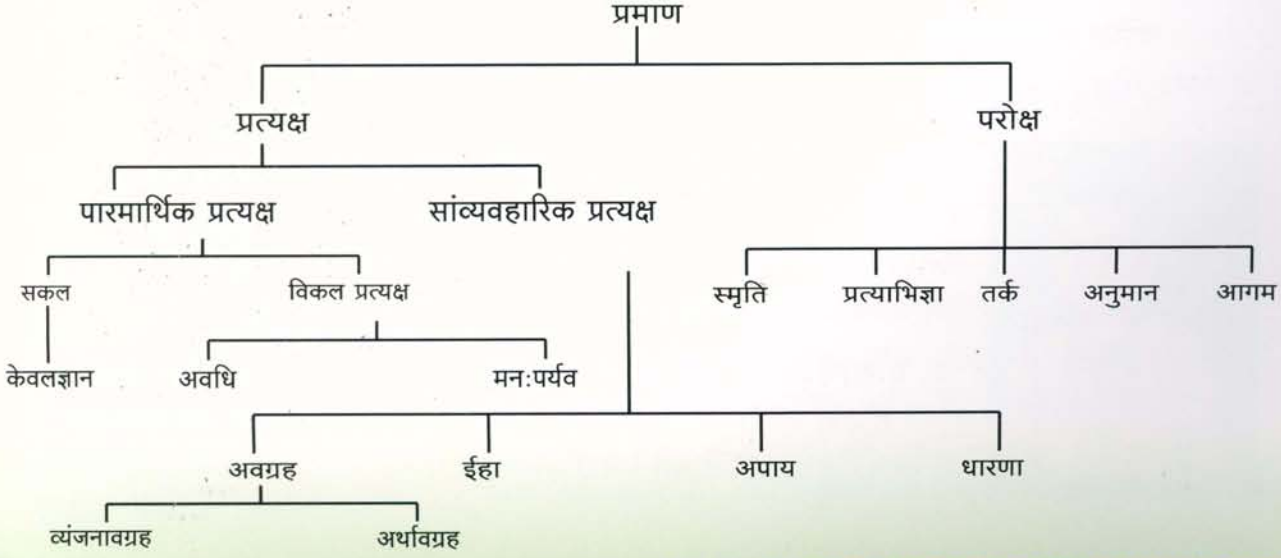

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

1. प्रत्यक्ष प्रमाण- प्रत्यक्ष शब्द प्रति उपसर्ग पूर्वक 'अक्ष' धातु से बना है। अक्ष का अर्थ 'जीव' और इन्द्रिय दोनों होता है पर जैन परम्परा में यहाँ 'अक्ष' शब्द आत्मा को माना है अर्थात् आत्मा से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। अन्य दर्शनों ने साधारण तौर पर इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। परन्तु जैन दर्शन ने इसे परोक्ष माना है। इस विरोध को दूर करने के लिए और अन्य दर्शनों के साथ समन्वय करने की दृष्टि से जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में कुछ परिवर्तन किया और कहा - **'विशदःप्रत्यक्षम्, अविशदम् परोक्षम्** अर्थात् विशद (स्पष्ट) ज्ञान प्रत्यक्ष है और अविशद् (अस्पष्ट) ज्ञान को परोक्ष कहा है। प्रत्यक्ष के उन्होंने दो भेद कर दिये है - 1. पारमार्थिक प्रत्यक्ष और 2. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष।

1. पारमार्थिक प्रत्यक्ष - जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन या किसी अन्य प्रमाणों के सहायता की अपेक्षा नहीं होती तथा जो सीधा आत्मा से होता है, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके दो भेद हैं-

a) **सकल** या पूर्ण - केवलज्ञान

b) **विकल** या अपूर्ण - अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान

2. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष - इन्द्रिय और मन से होनेवाला ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है या जिसके द्वारा हम सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार करते हैं, वह संव्यवहार है। इसके चार भेद बताये गये हैं। a) अवग्रह, b) ईहा, c) अपाय और d) धारणा।

सांव्यवहारिक और पारमार्थिक प्रत्यक्ष का विस्तृत विवेचन मति, श्रुतादि पाँच ज्ञानों के वर्णन में किया गया है। (पृ 19 से 31 तक)

2. परोक्ष प्रमाण - जो ज्ञान यथार्थ होते हुए भी अविशद या अस्पष्ट है अर्थात् जिस ज्ञान में दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा रहती है वह परोक्ष प्रमाण है।

परोक्ष प्रमाण के मुख्य पाँच भेद हैं -

1. स्मृति (स्मरण), 2. प्रत्यभिज्ञान, 3. तर्क, 4. अनुमान और आगम।

1. स्मृति - स्मरण - किसी ज्ञान या अनुभव के संस्कार के जागरण होने पर तत् अर्थात् वह इस आकार वाला जो ज्ञान होता है वह स्मृति है। यह अतीतकालीन पदार्थ को विषय करता है। इसमें 'तत्' वह शब्द का उल्लेख अवश्य होता है। जैसे वह मनुष्य है, वह राजगृही है आदि।

2. प्रत्यभिज्ञान - प्रत्यक्ष और स्मरण की सहायता से जो जोड रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। वर्तमान में किसी पदार्थ को देख अथवा जानकर ''यह वही है जो पहले देखा जाना था'' इस प्रकार जोड रूप ज्ञान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होना।

स्मृति का स्वरूप जहाँ ''वह मनुष्य है'', वहाँ प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप ''यह वही मनुष्य'' है। यह वही मनुष्य है इस वाक्य में ''यह मनुष्य'' इन्द्रिय प्रत्यक्ष है और 'वही' स्मृति में है। इन दोनों का योग होने पर जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञान है।

3. तर्क - व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य और साधन के अविनाभाव (एक के बिना दूसरे का न होना) को व्याप्ति कहते हैं। अमुक वस्तु होने पर ही अमुक दूसरी वस्तु का होना या पाया जाना उपलंभ कहलाता है और एक के अभाव किसी दूसरी वस्तु का न होना या न पाया जाना अनुपलंभ कहलाता है। जैसे अग्नि होने पर ही धुएँ का होना और अग्नि के अभाव में धुएँ का न होना। अत: उपलंभ और अनुपलंभ रूप जो व्याप्ति है उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान तर्क हैं।

4. अनुमान - साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। साधन को लिंग या चिह्न भी कहा जाता है। चिह्न से चिह्नमान का ज्ञान करना अनुमान है। जैसे सूत धागे आदि को देखकर कपडे का अनुमान करना या धूम से अग्नि को जान लेना अनुमान है। किसी स्थल पर धुआँ उठता हुआ दिखलाई देता है तो ग्रामीण लोग धुएँ को देखकर सहज ही यह अनुमान कर लेते है कि वहाँ पर आग जल रही है।

अनुमान के मुख्य दो भेद किये गये हैं - a) स्वार्थानुमान और b) परार्थानुमान।

a) स्वार्थानुमान - जो अपने अज्ञान की निवृत्ति करने में समर्थ हो वह स्वार्थानुमान है।

b) परार्थानुमान - जो दूसरों को अज्ञान को दूर करने में समर्थ हो वह परार्थानुमान है।

दूसरे शब्दों में अनुमान के मानसिक क्रम को स्वार्थानुमान और वाचिक क्रम को परार्थानुमान कहते है। स्वार्थानुमान में व्यक्ति स्वयं धूएँ को देखकर अग्नि का अनुमान कर लेता है। उसे किसी प्रकार के वचनों की सहायता लेनी नहीं पडती पर जब उसी बात का किसी दूसरे को अनुमान करवाना होता है

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो उसे कुछ वाक्य बोलकर ही समझाया जा सकता है।

5. आगम - आप्त पुरूषों के वचनों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह आगम प्रमाण है।

आगम के तीन प्रकार है - a) सूत्रागम, b) अर्थागम और c) तदुभयागम

a) सूत्रागम - तीर्थंकरों की वाणी को जो गणधरादि सूत्र रूप में गूंथते हैं उसे सूत्रागम कहते हैं। जैसे आचारांगादि

b) अर्थागम - सर्वज्ञ भगवान का जो अर्थ रूप उपदेश होता है वह अर्थागम है।

c) तदुभयागम - सूत्र और अर्थ दोनों रूपों में जो ज्ञान होता है वह तदुभयागम है।

इस प्रकार प्रमाण के द्वारा पदार्थो का यथार्थ ज्ञान होने से मनुष्य मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर अभिमुख होता हुआ मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है।

नयवाद

लोक में अनंत पदार्थ हैं। प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक गुणात्मक है। पदार्थ में व्याप्त इन गुणों को जानने-समझने की जो पद्धति है, उसे शास्त्रकारों ने प्रमाण और नय कहा है। प्रमाण के द्वारा पदार्थ को समग्र रूप से एक साथ जाना जाता है जबकि नय पदार्थ में विद्यमान गुणों में से एक समय में एक ही गुण अंश को जानने की पद्धति है। प्रमाण वस्तु के पूर्ण रूप को ग्रहण करता है और नय, प्रमाण द्वारा ग्रहीत वस्तु के एक अंश को जानता है। जैसे यह घडा है इस ज्ञान में प्रमाण घडे को अखंड भाव से उसके रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि अनन्त गुणों का विभाग न करके पूर्ण रूप से जानता है, जबकि नय उसका विभाजन करके ''रूपवाला घडा'' 'रसवालाघडा' आदि रूप में उसे अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार जानता है। अत: नय एक ही वस्तु को अपेक्षा भेद से या अनेक दृष्टिकोणों से ग्रहण करने वाले विकल्प अर्थ को नाना प्रकार से जाननेवाले अभिप्राय विशेष है।

पदार्थ के अनन्त धर्मो में से किसी एक की मुख्यता करके अन्य धर्मो का विरोध किये बिना उन्हें गौण करके साध्य को जानना, नय है। कथन की अपेक्षा का स्पष्ट करना अर्थात् कहने के जितने तरीके हैं, वे सब नय हैं।

नय के भेद :-

यूँ तो नयों के अनंत भेद हैं फिर भी स्थूलता से नयों के मूल सात भेद हैं। 1. नैगम, 2. संग्रह, 3. व्यवहार, 4. ऋजुसूत्र, 5. शब्द, 6. समभि रूढ, 7. एवंभूत।

1. नैगम नय :- संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नैगमनय है। जैसे कोई पुरूष प्रस्तक बनाने के लिए लकडी काटने जंगल जा रहा है। उसे कोई पूछता है कि तुम कहाँ जा रहे हो? वह उत्तर देता है ''प्रस्तक लेने जा रहा हूँ।'' वस्तुत: वह पुरूष लकडी काटने जा रहा है प्रस्तक तो पश्चात् बनेगा। किन्तु प्रस्तक के संकल्प को दृष्टि में रखकर ही वह इस प्रकार कहता है। उसका प्रस्तुत उत्तर नैगम नय की दृष्टि से ठीक है।

इस नैगम नय में अनेक औपचारिक व्यवहार भी आते हैं जैसे चूल्हा जल रहा है, यह रास्ता कहाँ जा रहा है? ये सब औपचारिक व्यवहार है, क्योंकि चूल्हा नहीं जलता है, लकडी

जलती है, रास्ता नहीं जाता है, पथिक जाते हैं। परन्तु नैगमनय की दृष्टि में ये सारे औपचारिक कथन सत्य हैं।

शब्दों के जितने अर्थ लोक-प्रचलित हैं उन सबको मान्य करना नैगम नय का विषय है।

''नैगम नय'' पदार्थ को सामान्य, विशेष और उभयात्मक मानता है। सभी वस्तुएँ सामान्य और विशेष दोनों धर्मों से युक्त होती हैं। उनमें जाति आदि सामान्य धर्म हैं और विशेष प्रकार के भेद करने वाले विशेष धर्म है। कल्पना कीजिए, सौ घडे पडे हुए हैं। उनमें 'ये सब घड़े हैं' यह जो ऐक्य बुद्धि है वह सामान्य धर्म से होती है। यह मेरा घडा है इस प्रकार सभी लोग अपने अपने घड़ों को पहचान ले, यह विशेष धर्म से होता है। नैगमनय वस्तु को इन उभय गुणों से युक्त मानता है।

नैगमनय के तीन रूप बनते हैं - 1. भूत नैगमनय, 2. भविष्य नैगमनय, और 3. वर्तमान नैगमनय

a) भूत नैगम नय :- अतीतकाल का वर्तमानकाल में सम्बोधन (संकल्प) करना भूत नैगम नय है। जैसे यह कहना कि ''आज महावीर जन्म कल्याणक है । यहाँ आज का अर्थ है -वर्तमान दिवस, परन्तु उसमें संकल्प लगभग छबीस सौ वर्ष पहले के दिन का किया गया है।

b) भविष्य नैगम नय :- भविष्य का वर्तमान में संकल्प करना भविष्य नैगम नय है - जैसे पद्मनाभ स्वामी अभी तीर्थंकर हुए नहीं, भविष्य में होंगे, लेकिन उन्हें अभी से ही तीर्थंकर मान लेना-पूजा-स्तुति स्तवनादि करना। यहाँ भविष्य में होनेवाली तीर्थंकर पर्याय को वर्तमान में कह दिया गया है।

c) वर्तमान नैगम नय :- जिस कार्य को प्रारंभ कर दिया गया हो परन्तु वह अभी तक पूर्ण नहीं हुआ हो फिर भी उसे पूर्ण कह देना अर्थात् क्रियमाण को कृत कहना वर्तमान नैगमनय है ! जैसे बम्बई जाने के लिए घर से रवाना हुए व्यक्ति के विषय में पूछने पर यह कहना कि वह बम्बई गया है। यद्यपि अभी वह व्यक्ति स्थानीय स्टेशन पर ही है या मार्ग में ही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नैगम नय के दो प्रकार हैं :-

अ) सर्वग्राही और आ) देशग्राही।

अ. सर्वग्राही नैगम नय :- सामान्य अंश का आधार लेकर प्रयुक्त होने वाले नय को सर्वग्राही नैगम नय है - जैसे यह घड़ा है।

आ. देशग्राही नैगम नय :- विशेष अंश का आश्रय लेकर प्रयुक्त होने वाले नय को देशग्राही नैगमनय कहते है। जैसे यह घड़ा सोने का है या चाँदी का है।

2. संग्रह नय : जिस नय में समूह की अपेक्षा से पदार्थ का विचार किया जाता है या अलग अलग पदार्थों के इकट्ठा हो जाने पर उस समुदाय को एक शब्द में कहना उसे संग्रहनय कहते हैं। जैसे बगीचा, बर्तन आदि। बर्तन शब्द जिन के लिए सामान्य रूप से उपयोग में आता है, जैसे थाली, गिलास, चम्मच, कटोरी आदि इन सबका संग्रह रहने से सबका कथन हो जाता है। इसमें पदार्थ के विशेष गुण को गौण कर सामान्य गुण को प्रधानता दी जाती है। यह वस्तु में अभेद मानता है क्योंकि यह सम्पूर्ण जाति की चर्चा करता है।

संग्रहनय के दो भेद है :-

a) पर - संग्रह नय और b) अपर - संग्रह नय

a) पर-संग्रहनय :- सत्ता मात्र को ग्रहण करने वाला नय पर-संग्रह नय कहलाता है। जैसे सारा विश्व एक है क्योंकि सब सत् यानि की सबका अस्तित्व है।

b) अपर-संग्रह नय :- जीव अजीव आदि अवान्तर सामान्य को ग्रहण करने वाला और उनके भेदों की उपेक्षा करने वाला अपर संग्रह नय है। जैसे जीव कहने से सब जीवों का ग्रहण तो हुआ परन्तु अजीवादि का ग्रहण नहीं हो सका। उसमें एक पर्याय रूप से समस्त पर्यायों का, द्रव्य रूप से समस्त द्रव्यों का, गुण रूप से समस्त गुणों का, मनुष्य रूप से समस्त मनुष्यों इत्यादि का संग्रह किया जाता है।

3. व्यवहार नय :- संग्रहनय के द्वारा गृहीत अर्थों का विशेषता के आधार से विधिपूर्वक विभाग करने वाला व्यवहार नय है। जैसे संग्रह नय में बर्तन कहा गया जिसमें थाली, गिलास आदि सब आ गये किन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से थाली को थाली, गिलास को गिलास आदि कहा जाता है। जैसे 'बर्तन ला' ऐसा कहने से व्यवहार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं चलता है, व्यवहार के लिए तो बर्तन विशेष का नाम ही लेना पडता है, जैसे 'थाली ला'। यह नय संग्रह नय के कथन में भेद करता है। इसमें विशिष्ट गुण को प्रधानता दी जाती है। दूसरों शब्दों में कहा जाय तो लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाले विचार को व्यवहार नय कहते हैं।

4. ऋजुसूत्र नय :- वर्तमान क्षण में होनेवाली पर्याय को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाले नय को ऋजुसूत्र नय कहते हैं। इसमें पदार्थ की वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण किया जाता है भूत और भविष्य को गौण कर दिया जाता है, जैसे - कोई कभी सेठ रहा हो किन्तु वर्तमान में वह भिखारी हो जाए तो उसे इस नय की अपेक्षा से सेठ नहीं कहेंगे, भिखारी ही कहेंगे।

5. शब्द नय :- काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरूष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दों में अर्थभेद का प्रतिपादन करनेवाले नय को शब्द नय कहते हैं, या जो नय लिंग, वचन, व कारक आदि के दोषों को दूर करके पदार्थ का कथन करता है उसे शब्दनय कहते हैं। जैसे मेरू था, मेरू है और मेरू होगा। उक्त उदाहरण में शब्द नय भूत, भविष्य वर्तमान काल के भेद से मेरू पर्वत को तीन रूपों में ग्रहण करता है । वर्तमान को मेरू है, अतीत का ओर था और भावी का ओर ही होंगा। काल पर्याय दृष्टि से यह भेद है। अत: व्याकरण की लिंग, वचन, काल आदि की अनियामकता को यह प्रमाण नहीं करता। इसका अभिप्राय है - 1. पुल्लिंग का वाच्य अर्थ स्त्रीलिंग का वाच्य अर्थ नहीं बन सकता। और स्त्री लिंग का वाच्य अर्थ नपुंसक लिंग नहीं बन सकता है।

पहाड का जो अर्थ है वह पहाडी शब्द से व्यक्त नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ लिंग भेद होता है वहाँ अर्थ भेद भी होता है जैसे पुत्र और पुत्री में।

एक वचन का जो वाच्यार्थ है वह बहुवचन का वाच्यार्थ नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो मीना छात्रा है के स्थान पर 'मीना छात्राएँ है', भी प्रयोग शुद्ध गिना जाता ।

यह नय एक लिंग वाले पर्यायवाची शब्दों में भेद नहीं मानता। जैसे एक ही अर्थ के बोधक - राजा,नृपति, भूपाल, नृप, भूपति आदि ये सारे शब्द एक ही व्यक्ति के सूचक मानता हैं। ये शब्द नय हुआ।

6. समभिरूढ नय :- पर्यायवाची शब्दों में भी व्युत्पत्ति के आधार पर भिन्न अर्थ को माननेवाला नय समभिरूढ नय है। इस नय में जो शब्द जिस रूढ अर्थ में प्रयुक्त है, उसे उसी रूप में

For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग किया जाता है। इस नय के अनुसार प्रत्येक शब्द के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं।

शब्द नय तो अर्थ भेद वही मानता है, जहाँ लिंग आदि का भेद है, परन्तु समभिरूढ नय की दृष्टि से प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग ही होता है भले ही वे शब्द पर्यायवाची हों! और उनमें लिंगादि भेद भी न हो। जैसे इन्द्र, पुरन्दर, शकेन्द्र आदि शब्द पर्यायवाची है अतः शब्द नय की दृष्टि से इनका एक ही अर्थ है, परन्तु समभिरूढ नय के मन में इनके अलग अलग अर्थ है। इन्द्र शब्द से ऐश्वर्यशाली का बोध होता है, पुरन्दर नगर का विनाशक तथा शक्रेन्द्र से शक्ति सम्पन्न का बोध होता है।

7. एवंभूत नय :- पदार्थ जिस समय अपनी अर्थ क्रिया में प्रवृत्त हो उसी समय उसे शब्द का वाच्य मानना चाहिए - ऐसी निश्चय दृष्टिवाला नय एवंभूत नय है। जिस शब्द का जो व्युत्पत्ति अर्थ होता है, उसके होने पर ही उस शब्द का प्रयोग करना एवंभूत नय है। इन्द्रासन पर जिस समय शोभित हो रहा हो उस समय उसे इन्द्र कहना चाहिए। जिस समय वह शक्ति का प्रयोग कर रहा हो उस समय उसे इन्द्र नहीं कहना चाहिए उस समय उसे शक्र कहना चाहिए। जिस समय वह नगर का ध्वंस कर रहा हो उस समय उसे पुरंदर कहना चाहिए। इसी प्रकार तीर्थंकर शब्द का प्रयोग उसी समय करना चाहिए जब वे तीर्थ की स्थापना कर रहे हों, अन्य समय नहीं।

सत्य अनन्त पहलुओं वाला है। उसे किसी एक पहलू से नहीं समझा जा सकता। एकांगी दृष्टि वस्तु को सही रूप में देखने में असमर्थ है। इसलिए जैन दर्शन ने नयों का विवेचन किया है। इस नयवाद को ठीक ढंग से समझ लेने पर समस्त विवादों का समाधान हो जाता है। नयवाद की यही उपयोगिता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निक्षेपवाद

मानव अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। बिना भाषा के वह अपने विचार सम्यक् प्रकार से अभिव्यक्त नहीं कर सकता। मानव और पशु में एक बहुत बड़ा अन्तर यही है कि दोनों में अनुभूति होने पर भी पशु भाषा की स्पष्टता न होने से उसे व्यक्त नहीं कर पाता जबकि मानव अपने विचारों को भाषा के माध्यम से भली-भाँति व्यक्त कर सकता है।

विचारों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है भाषा। भाषा की संरचना का आधार शब्द है। एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द का नियत अर्थ क्या है इसे ठीक रूप से समझ लेना जैन दर्शन की भाषा में निक्षेपवाद कहा जाता है। निक्षेप का लक्षण जैन दार्शनिकों ने इस प्रकार बताया है कि शब्दों का अर्थों में और अर्थों का शब्दों में आरोप करना, न्याय करना अर्थात् जो किसी एक निश्चय या निर्णय में स्थापित करता है उसे निक्षेप कहते हैं। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में बताया है ' 'नि' का अर्थ है 'नियत' और 'निश्चित' । 'क्षेप' का अर्थ है ' न्यास करना। वक्ता शब्द द्वारा जिस भाव को प्रकट करना चाहता है, उस भाव को, उस शब्द में फिट करना, अथवा स्थापना करना निक्षेप है।

निक्षेप के प्रकार :-

तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने कहा है

'नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः' ।।5।।

जीवादि तत्वों का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से न्यास किया जाय वह निक्षेप होता है। अतः निक्षेप के मुख्य रूप से चार प्रकार हैं - 1. नाम निक्षेप, 2. स्थापना निक्षेप, 3. द्रव्य निक्षेप और 4. भाव निक्षेप।

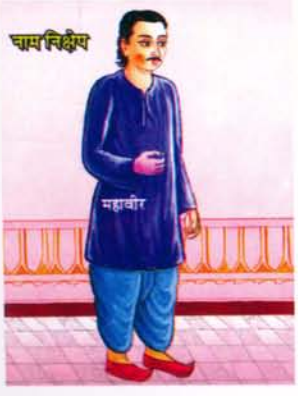

1. नाम निक्षेप :- किसी पदार्थ या व्यक्ति का गुण आदि पर विचार किये बिना लोक व्यवहार चलाने के लिए स्वेच्छा से नाम रख देना नाम निक्षेप है। जैसे किसी का नाम महावीर रख देना। पर उसमें महावीर जैसे गुण नहीं है। वह तो कायर और निर्बल है। यह नाम तो लोक व्यवहार में उसे जानने के लिए संकेतात्मक है। नाम निक्षेप में केवल व्यक्ति या पदार्थ की संज्ञा (नाम) अपेक्षित होती है।

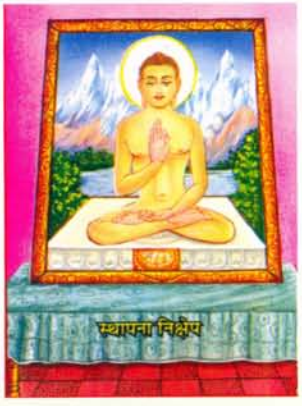

2. स्थापना निक्षेप :- जिस निक्षेप में मूल पदार्थ या व्यक्ति की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र में उस नाम की स्थापना कर देना स्थापना निक्षेप कहलाता है। स्थापना निक्षेप के दो भेद हैं :-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

a) तदाकार स्थापना और b) अतदाकार स्थापना। इन्हें सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना भी कहते हैं।

a) तदाकार स्थापना :- किसी वस्तु की उसी के आकार वाली दूसरी वस्तु में स्थापना करना तदाकार स्थापना है। जैसे अपने गुरू के चित्र को गुरू मानना।

b) अतदाकार स्थापना :- जो किसी तरह गुरु के आकर के नहीं है फिर भी उन शंख स्थापनाचार्य आदि में अपने गुरू का आरोप कर लेना अतदाकार स्थापना है।

3. द्रव्य निक्षेप :- अतीत और अनागत पर्याय को लक्ष्य में रखकर पदार्थ में वैसा व्यवहार करना द्रव्य निक्षेप है । जैसे पहले कभी राजा अथवा मंत्री रहे हुए व्यक्ति को वर्तमान में राजा या मन्त्री कहना। यह अतीत पर्याय की दृष्टि से कहा जा सकता है। जो भविष्य में वैसा बनेगा- उस भावी पर्याय को दृष्टि में रखकर वर्तमान में वैसा कहना - जैसे युवराज को राजा शब्द से सम्बोधित करना। यह द्रव्य निक्षेप है।

4. भाव निक्षेप :- सम्पूर्ण गुण युक्त पदार्थ या व्यक्ति को उस रूप में मानना भाव निक्षेप कहलाता है। यह वर्तमान पर्याय का तथा गुण सम्पन्नता को महत्व देता है। अतीत और अनागत पर्याय को स्वीकार नहीं करता। जो पहले राजा था या आगे राजा होगा वह इस भाव निक्षेप की दृष्टि में राजा नहीं कहा जा सकता। जो वर्तमान में सिंहासनारूढ़ होकर राज्य का संचालन कर रहा हो वही भाव निक्षेप से राजा है।

इस प्रकार निक्षेप पदार्थो का ज्ञान कराने का एक साधन है। पदार्थ के स्वरूप को सही रूप में समझने के लिए निक्षेप के सिद्धांत की उपयोगिता है। यह पद्धति तत्त्वज्ञान या शास्त्र समझने के लिए जितनी उपयोगी है, व्यवहार में भी उतनी उपयोगी है। हम व्यवहार में इन चारों का उपयोग करके अपना इच्छित अभिप्राय दूसरों को समझा सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्तवाद

चिन्तन के क्षेत्र में जैन दर्शन का महत्वपूर्ण अवदान है - अनेकान्तवाद। अनेकान्तवाद शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है - अनेक और 'अन्त'। अनेक का अर्थ है - एक से अधिक और अन्त का अर्थ है गुण या स्वभाव। वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व मानना अनेकान्तवाद है।

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। उसके अनंत पहलू हैं। अनंत धर्मो का एक साथ कथन किसी के वश की बात नहीं, क्योंकि भाषा की अपनी सीमा है। वस्तु के समग्र स्वरूप के प्रामाणिक प्रतिपादन के लिए यह आवश्यक है कि एक समय में वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य रूप से कहा जाय और शेष धर्मों को गौण रूप में स्वीकार किया जाय। इस मुख्य और गौण भाव को अर्पणा और अनर्पणा भी कहा गया हैं। इसलिए तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है -

'अर्पितानर्पित सिद्धेः'

मुख्य और गौण भाव से अथवा अपेक्षा या अनपेक्षा से वस्तु तत्त्व की सिद्धि होती है। अनेकांत वाद वस्तु तत्त्व को जानने का वह प्रकार है, जो विवक्षित (उस समय कहने योग्य मुख्य) धर्म को जानकर भी अन्य धर्मो का निषेध नहीं करता, उन्हें गौण या अविवेक्षित कर देता है।

एक व्यक्ति कवि है, लेखक है, वक्ता है, चित्रकार है, संगीतकार है और भी न जाने क्या क्या है। कविता-गोष्ठी में उसका कवि रूप सामने आता है पर उस समय उसकी दूसरी-दूसरी विशेषताऐं समाप्त नहीं हो जाती। उसके लिए कोई यह कहे कि वह कवि ही है, अन्य कुछ नहीं तो इस कथन में सत्यता नहीं रहती। इसलिए स्याद्वाद को समझनेवाला व्यक्ति कहेगा कि एक अपेक्षा से वह कवि है किन्तु अन्य अपेक्षाओं से वह वक्ता, लेखक आदि भी है।

इस प्रकार वस्तु में जो नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष आदि विरोधी धर्म प्रतीत होते है, उन्हें यदि अपेक्षा भेद से देखे तो वे विरोधी नहीं प्रतीत होते। अन्य दर्शनकारों ने अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक-एक धर्म को पकडकर उसे ही समग्र वस्तु मान लेने की भूल की है। जैसे बौद्ध दर्शन वस्तु की क्षणिक पर्याय को ही समग्र वस्तु मान लेता है और वस्तु के द्रव्यात्मक नित्य पक्ष को सर्वथा अस्वीकार करता है। वेदान्त एवं सांख्य दर्शन वस्तु को सर्वथा निषेध करता है। नैयायिक एवं वैशेषिक दर्शन यद्यपि वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों को मानते हैं तथापि वे किसी को सर्वथा नित्य मानते हैं और किसी को सर्वथा अनित्य मानते हैं। साथ ही वे पदार्थ के नित्यत्व और अनित्यत्व को पदार्थ से भिन्न मानते हैं, जबकि वह वस्तु का तादात्म्य स्वरूप है। ये दर्शनकार परस्पर विरोधी और एकांगी पक्ष को लेकर परस्पर विवाद करते हैं। उनका यह विवाद अन्ध न्याय की तरह है। जैसे पांच अन्धे व्यक्तियों ने हाथी को जानना चाहा। पहले अन्धे ने हाथी के पैरों को पकडा और कहा - हाथी खम्भे जैसा होता है । दूसरे अन्धे ने हाथी की पूँछ को पकडा और कहा - हाथी खम्भे जैसा नहीं अपितु रस्सी जैसा होता है। तीसरे ने हाथी के मध्य भाग को छुआ और कहा - हाथी तो दीवार जैसा होता है। चौथे ने उसकी सूंड को पकडा और कहा - हाथी तो पेड की शाखा जैसा होता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पाँचवें ने हाथी के कान को पकडा और कहा - हाथी न खम्भे जैसा होता है, न दीवार जैसा, अपितु वह तो छाज जैसा होता है। विवाद बढ गया। एक समझदार व्यक्ति ने उन सबकी बातें सुनी और वह बोला ' भाइयों। आप सभीने सही जाना है, परन्तु वह अपूर्ण जाना है। हाथी खम्भे जैसा भी है, रस्सी जैसा भी है, दीवार जैसा भी और पेड की शाखा जैसा भी है। आपने हाथी के एक-एक अवयव को पकडकर वैसा समझ लिया है। वास्तव में हाथी का सही स्वरूप तब बनता है जब आप सब की बातों को जोड दिया जाय और आप सब एक दूसरे से सहमत हों । एक-एक अवयव अलग-अलग रहकर शरीर नहीं कहा जा सकता। पूरे अवयव संयुक्त रहकर ही शरीर की संज्ञा पाते हैं। वैसे ही आप सब लोगों का संयुक्त कथन ही हाथी का सही रूप है। अलग-अलग कथन, सब मिथ्या है। अलग-अलग अंश वस्तु का समग्र स्वरूप नहीं है अपितु अंशों का समन्वित स्वरूप ही वस्तु है ।

इस तरह जैन चिन्तकों ने विरोधी धर्मो का एक साथ होना असंभव नहीं माना, विरोधी विचारों को स्वीकार ही नहीं किया अपितु उन विरोधी विचारों के बीच भी समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध विद्वान उपाध्याय यशोविजयजी ने **'ज्ञानसार'** में कहा है - सच्चा अनेकांतवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं कर सकता। वह एकनयात्मक दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्य की दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को देखता हैं। अनेकांतवादी न किसी को न्यून और न किसी को अधिक समझता है - उसका सबके प्रति समभाव होता है। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहलाने का अधिकारी वही है जो अनेकांतवाद का अवलम्बन लेकर समस्त दर्शनों पर समभाव रखता हो। मध्यस्थभाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा कोटि-कोटि शास्त्रों को पढ लेने पर भी कोई लाभ नहीं होता। क्योंकि जहाँ आग्रह बुद्धि होती है वहाँ विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन संभव नहीं होता। अनेकांत दृष्टि को न केवल शास्त्रों तक सीमित रखना चाहिए अपितु जीवन व्यवहार में भी उतारना चाहिए। यदि जीवन व्यवहार में अनेकान्त दृष्टि आ जाती है तो सर्वत्र शांति ही शांति प्रतीत होने लगती है। यदि यह अनेकान्त दृष्टि व्यवहार में नहीं आती है, वहाँ क्लेश, विवाद, संघर्ष और अशान्ति ही मची रहती है।

इसलिए तो एक आचार्य ने कहा है

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वहो ?

तस्स भुवणेक्क गुरूणो णमो अणेगन्तवायस्स ।।

जिसके बिना लोक व्यवहार सुविधापूर्वक नहीं चल सकता, उस जगत के एक मात्र गुरू अनेकांतवाद को नमस्कार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दोनों एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। अनेकान्त वह वैचारिक दृष्टि है जो पदार्थ को नाना रूपों में देखती है और स्याद्वाद वह वचन शैली है जो अनेकांत दृष्टि को निर्दोष भाषा का स्वरूप प्रदान करती है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को सम्यक् भाषा में प्रतिपादित करने के लिए स्याद्वाद का अवलम्बन लेना होता है। स्याद्वाद स्यात् + वाद् - इन दो पदों से बना है। 'स्यात्' का अर्थ है - कथंचित, किसी अपेक्षा से और वाद का अर्थ है - सिद्धांत, मत या कथन करना। इस प्रकार स्याद्वाद पद का अर्थ हुआ विविध दृष्टि बिन्दुओं से वस्तुतत्व का निरीक्षण - परीक्षण करना।

सप्तभंगी

सप्तभंगी स्याद्वाद की भाषायी अभिव्यक्ति के सामान्य विकल्पों को प्रस्तुत करती है। हमारी भाषा विधि-निषेध की सीमाओं से घिरी हुई है। 'है' और 'नहीं है' हमारे कथनों के दो प्रारूप हैं। किन्तु कभी-कभी हम अपनी बात को स्पष्टतया 'है' (विधि) और 'नही हैं' (निषेध) की भाषा में प्रस्तुत करने में असमर्थ होते हैं। अर्थात् सीमित शब्दावली यह भाषा हमारी अनुभूति को प्रकट करने में असमर्थ होती है। ऐसी स्थिति में हम एक तीसरे विकल्प ''अवाच्य'' या ''अवक्तव्य'' का सहारा लेते हैं, अर्थात् शब्दों के माध्यम से 'है' और 'नहीं है' की भाषायी सीमा में बांधकर उसे कहा नहीं जा सकता है। इस प्रकार विधि, निषेध और अवक्तव्य जो सात प्रकार का वचन विन्यास बनता है उसे सप्तभंगी कहा जाता है।

1. स्याद् अस्ति, 2. स्याद् नास्ति, 3. स्याद् अस्ति -नास्ति, 4. स्याद् अवक्तव्य, 5. स्याद् अस्ति-अवक्तव्य, 6. स्याद् नास्ति - अवक्तव्य, 7. स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

स्याद् शब्द का अर्थ

जैन दर्शन में 'स्याद्' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया गया है। इसका अर्थ होता है - सापेक्ष, कथंचित्, किसी अपेक्षा से। स्याद्वाद सापेक्षता का सिद्धांत है। स्याद् अनेकांत का द्योतक अव्यय है। यह अव्यय इस अर्थ को प्रकट करता है कि ''इसके साथ जो कथन किया गया है वह सापेक्ष है अर्थात् इसके अतिरिक्त भी धर्म इस पदार्थ में हैं किन्तु वे विवक्षित मुख्य नहीं है - गौण है । इस विशिष्ट अर्थ को सूचित करने के लिए जैनाचार्यों ने 'स्याद्' शब्द का प्रयोग किया हैं। यह वाक्य में जुडकर यह बताता है कि जो बात कही जा रही है, वह किसी विशेष दृष्टि से कही जा रही है। सरल भाषा में स्याद् का अर्थ 'भी' भी किया जा सकता है, वस्तु ऐसी भी हैं।

1. स्याद् अस्ति - स्याद् अस्ति अर्थात् कथंचित् किसी अपेक्षा से है। स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से हर वस्तु का अस्तित्व होता है। संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो अस्तित्ववान् नहीं है। किन्तु अस्तित्व के साथ-साथ स्याद् शब्द इस बात का द्योतक है कि उसमें

अस्तित्व धर्म तो है ही,नास्तित्व धर्म भी है। उसे नहीं समझा जायेगा तो वस्तु का पूर्ण बोध नहीं होगा।

2. स्याद् नास्ति - स्याद् नास्ति अर्थात् कथंचित् नहीं है। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने (स्व) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तित्ववान है, वैसे ही वह दूसरे (पर) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नहीं भी है। अस्तित्व और नास्तित्व की एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से सह अवस्थिति है, जैसे

	दृष्टियाँ	स्वदृष्टि से अस्तित्व	परदृष्टि से नास्तित्व
1.	द्रव्य दृष्टि	घड़ा मिट्टी द्रव्य का है	घड़ा सोने का नहीं है।
2.	क्षेत्र दृष्टि	घड़ा दिल्ली क्षेत्र का है	घड़ा अहमदाबाद का नहीं है।
3.	काल दृष्टि	घड़ा शीतकाल का बना हुआ है	घड़ा ग्रीष्मकाल का नहीं है।
4.	भाव दृष्टि	घड़ा पानी रखने का है	घड़ा घी रखने का नहीं है।

3. स्याद् अस्ति - नास्ति - किसी अपेक्षा से वस्तु है, और किसी अपेक्षा से नहीं भी है। घटादि पदार्थ स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अस्तिरूप है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा नास्ति रूप है। ये दोनों बातें यहाँ क्रम से कही गई है। अतएव यह भंग प्रथम और द्वितीय भंगों का संयोगी भंग है। इसमें क्रमशः विधि-निषेध का रूप रहा हुआ है।

4. स्याद् अवक्तव्य - वस्तु में अस्तित्व-नास्तित्व दोनों धर्म एक साथ रहते हैं, किन्तु शब्द के द्वारा उन दोनों धर्मों का एक साथ कथन नहीं किया जा सकता। ऐसा कोई शब्द नहीं है कि दोनों विरोधी धर्मों को एक साथ व्यक्त किया जा सके। एक साथ दोनों धर्मों का कथन न कर पाने की दृष्टि से वस्तु स्याद् अवक्तव्य है। ''अवक्तव्य'' के द्वारा एक साथ दोनों अर्थों का बोध हो जाता है।

5. स्याद् अस्ति अवक्तव्य - यह पहले और चौथे भंग के संयोग से बना है। वस्तु कथंचित् है फिर भी वह पूर्णरूप में अवक्तव्य है। प्रथम क्षण में स्वचतुष्टय का अस्तित्व और द्वितीय क्षण में युगपत् स्व-पर द्रव्य क्षेत्र आदि चतुष्टय रूप अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा और दोनों समयों पर सामूहिक दृष्टि होने पर घटादि वस्तु स्याद् अस्ति अवक्तव्य भंग का विषय बनती है। अर्थात् प्रथम अस्तित्व को और तदनन्तर अवक्तव्य को क्रम से कहने की इच्छा होना स्याद् अस्ति अवक्तव्य है।

6. स्याद् नास्ति अवक्तव्य - वस्तु कथंचित् नहीं है फिर भी पूर्णरूप में अवक्तव्य है। प्रथम क्षण में पर चतुष्टय का नास्तित्व और द्वितीय क्षण में युगपत् स्व-पर चतुष्टय रूप अवक्तव्य को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रमिक विवक्षा और दोनों समयों पर सामूहिक दृष्टि होने पर घटादि वस्तु स्याद् नास्ति अवक्तव्य का विषय बनती है। यह दूसरे और चौथे भंग के संयोग से बना है।

7. स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य - यह तीन भंगों के संयोग से बना है। वस्तु कथंचित् है भी, नहीं भी है, फिर भी पूर्ण रूप में अवक्तव्य है। प्रथम समय में स्वचतुष्टय के अस्तित्व की, द्वितीय समय में पर चतुष्टय के नास्तित्व की और तृतीय समय में युगपत् स्व-पर चतुष्टय रूप अवक्तव्य की विवक्षा होने पर और तीनों समय पर सामूहिक दृष्टि होने पर घटादि वस्तु स्याद्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य रूप सप्तम भंग का विषय होती है।

इसीको एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट रूप हो समझने का प्रयास करें।

1. स्याद् अस्ति - यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है।

2. स्याद् नास्ति - यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है।

3. स्याद् अस्ति नास्ति - यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते है तो आत्मा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है।

4. स्याद् अवक्तव्य - यदि द्रव्य और पर्याय दोनों की अपेक्षा से एक साथ विचार करते है तो आत्मा अवक्तव्य है। क्योंकि दो भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दो अलग-अलग कथन हो सकते हैं किन्तु एक कथन नहीं हो सकता।

5. स्याद् अस्ति अवक्तव्य - यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है किन्तु यदि आत्मा की द्रव्य पर्याय दोनों या अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है।

6. स्याद् नास्ति अवक्तव्य - यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है किन्तु यदि अनन्त अपेक्षा की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य हैं।

7. स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य - यदि द्रव्य दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है और पर्याय दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है किन्तु यदि अपनी अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते है तो आत्मा अवक्तव्य है।

* जैन आचार मीमांसा *

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ
समाधिमरण (संलेखना)

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

श्रावक सम्यक्त्व पूर्वक बारह व्रत धारण करता है। किन्तु वह इतना करके ही नहीं रूक जाता है। वह व्रतों को निरतिचार पालन करने के लिए और उनमें ठोस दृढ़ता लाने के लिए विशेष प्रकार की प्रतिमाएँ लेता है। शास्त्र में इस प्रकार की विशेष प्रतिज्ञाओं को प्रतिमा (पडिमा) कहा गया है।

प्रतिमा का अर्थ है - विशिष्ट साधना की प्रतिज्ञा। जिसमें श्रावक संकल्पपूर्वक अपने स्वीकृत यम नियमों का दृढ़ता से पालन कर जीवन के परमादर्श 'स्वस्वरूप' को प्राप्त कर लेने की ओर आगे बढता है। **उत्तराध्ययन सूत्र** में श्रावक की ग्यारह पडिमाओं का निरूपण किया है जिनके नाम और स्वरूप इस प्रकार है।

1. दर्शन प्रतिमा, 2. व्रत प्रतिमा, 3. सामायिक प्रतिमा, 4. पौषध प्रतिमा, 5. नियम (कायोत्सर्ग) प्रतिमा, 6. ब्रह्मचर्य प्रतिमा, 7. सचितत्याग प्रतिमा, 8. आरम्भत्याग प्रतिमा, 9. प्रेष्यत्याग प्रतिमा, 10. उद्दिष्ट भत्त त्याग प्रतिमा और 11. श्रमणभूत प्रतिमा।

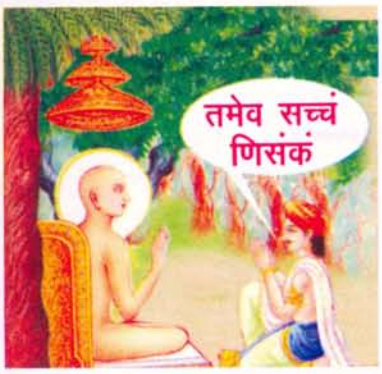

1. दर्शन प्रतिमा :- वैसे तो सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही वास्तविक श्रावकत्व आता है, अतः बारह व्रत धारण कर लेने से सम्यग्दर्शन का स्वयमेव उसमें अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में पुनः दर्शन प्रतिमा स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है? इसका समाधान यह है कि व्रत ग्रहण से पूर्व जो सम्यग्दर्शन होता है उसमें अतिचारों के लगने की संभावना रहती है जिससे उसमें मलिनता रह सकती है। अतएव उसका निराकरण करने के लिए और पूर्वगृहीत सम्यक्त्व का शंका-कांक्षा आदि अतिचारों से सर्वथा दूर रहकर शुद्ध रीति से पालन करने के लिए दर्शन-प्रतिमा स्वीकार की जाती है। इस प्रतिमा का समय एक मास है। एक मास पर्यन्त दर्शन में किसी प्रकार की मलिनता न आने देना और दर्शन को विशिष्ट दृढ़ता पर पहुँचा देना इस प्रतिमा का प्रयोजन है।

2. व्रत प्रतिमा :- दर्शन की परिपूर्णता - दृढ़ता हो जाने के पश्चात् व्रतों को दृढ़ करना होता है। अतः पूर्व स्वीकृत व्रतों को विशेष दृढ़ करने के लिए यह प्रतिमा अंगीकार की जाती है। बारह व्रतों में सामायिक एवं पौषध इन व्रतों को छोड़कर शेष व्रतों को इस प्रतिमा में दो मास तक अतिचार रहित निर्मल रीति से अविराधितरूप से पालन किया जाता है।

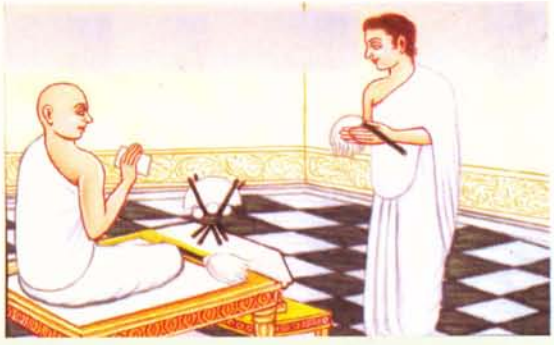

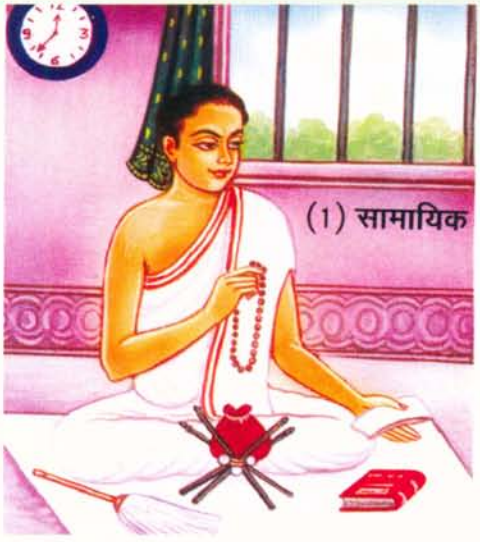

3. सामायिक प्रतिमा :- पूर्व प्रतिमाओं की साधना के सहित गृहस्थ साधक को प्रतिदिन नियमित रूप से दोनों समय अप्रमत्तरूप से 32 दोषों से रहित शुद्ध सामायिक की साधना करनी होती है। इसकी अवधि तीन मास है।

4. पौषध प्रतिमा :- पूर्वप्रतिमाओं के अनुष्ठान सहित निरतिचार रूप से 4 महीने तक प्रत्येक मास के दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा इन दिनों में श्रावक का गुरू के समीप या धर्म स्थान में उपवास सहित पौषध लेकर आत्मसाधना में रत रहना, श्रावक की पौषध प्रतिमा है।

5. नियम प्रतिमा :- इसे कायोत्सर्ग प्रतिमा एवं दिवामैथुन विरत-प्रतिमा भी कहा जाता है। इसमें पूर्वोक्त प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए पांच विशेष नियम लिए जाते हैं - 1. स्नान नहीं करना, 2. रात्रि भोजन नहीं करना, 3. धोती की एक लांग नहीं लगाना, 4. दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा 5. रात्रि में मैथुन की मर्यादा निश्चित करना। प्रत्येक चर्तुदशी के दिन पौषध की सारी रात्रि कायोत्सर्ग अवस्था में व्यतीत करना। वस्तुतः इस प्रतिमा में कामासक्ति, भोगासक्ति अथवा देहासक्ति कम करने का प्रयास किया जाता है। इसकी अवधि पांच मास की है।

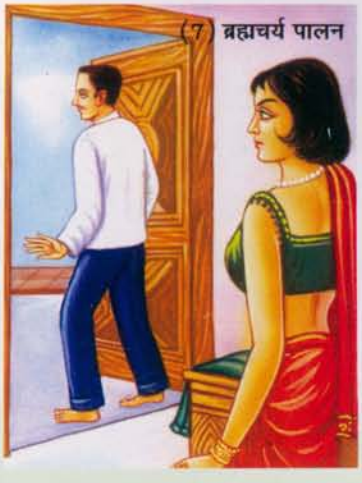

6. ब्रह्मचर्य प्रतिमा :- इस प्रतिमा में पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। शेष सब आचार विधि पाँचवी प्रतिमा के समान है। इसकी अवधि छह मास की है। इस प्रतिमा में साधक ब्रह्मचर्य की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रक्षा के निमित्त 1. स्त्री के साथ एकान्त सेवन नहीं करना, 2. स्त्री-वर्ग से अति परिचय या सम्पर्क नहीं रखना, 3. श्रृँगार नहीं करना, 4. स्त्री जाति के रूप-सौंदर्य सम्बन्धी तथा कामवर्द्धक वार्तालाप नहीं करना, 5. स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठना आदि नियमों का भी पालन करता है।

7. सचित त्याग प्रतिमा :- पूर्वोक्त प्रतिमाओं के नियमों का यथावत् पालन करते हुए गृहस्थ साधक इस प्रतिमा के सभी प्रकार की सचित वस्तुओं के आहार का त्याग कर देता है एवं उष्ण जल तथा अचित आहार का ही सेवन करता है। इसकी अवधि सात मास की है।

8. आरम्भ त्याग प्रतिमा :- इस प्रतिमा में उपासक आठ महीनें तक स्वयं आरम्भ करने का त्याग कर देता है। वह इस प्रसंग पर अपने कुटुंबीजनों को बुलाकर एक विशेष समारोह के साथ अपने पारिवारिक, सामाजिक और व्यावसायिक उत्तरदायित्व को ज्येष्ठ पुत्र या अन्य उत्तराधिकारी को संभला देता है और स्वयं निवृत्त होकर अपना सारा समय धर्माराधना में लगाता है। इस भूमिका में रहकर गृहस्थ-उपासक यद्यपि स्वयं व्यवसाय आदि कार्यों में भाग नहीं लेता है और न स्वयं कोई आरंभ ही करता है, फिर भी वह अपने पुत्रादि को यथावसर व्यावसायिक एवं पारिवारिक-कार्यों में मार्गदर्शन देता रहता है।

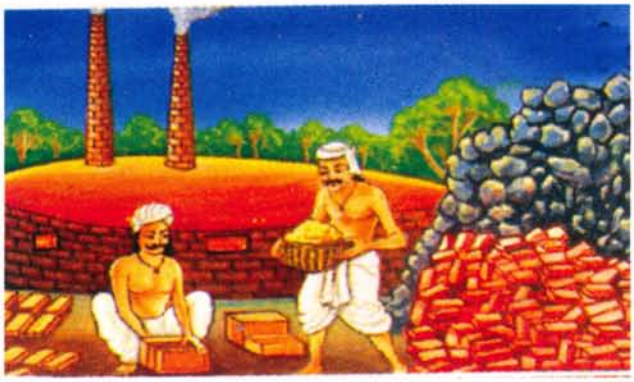

9. प्रेष्य त्याग प्रतिमा :- इस प्रतिमा में गृहस्थ उपासक नौ महीने तक आरंभ करने का, दूसरों के द्वारा आरंभ करवाने का त्याग कर देता है। वह नौकर-चाकर आदि के द्वारा भी आरम्भ का कोई काम नहीं करवाता है।

10. उद्दिष्ट भक्तत्याग प्रतिमा :- निवृत्ति के इस चरण में गृहस्थ-उपासक स्वयं के लिए बने आहारादि का भी परित्याग कर देता है। शिर मुण्डन कर लेता है। वह किसी भी गृहस्थ या कुटुम्बीजन के यहाँ जाकर आहार ग्रहण करता है। इस प्रतिमा को धारण किये हुए गृहस्थ साधक को यदि किसी पारिवारिक बात के पूछे जाने पर उसे इन दो विकल्पों से उत्तर देना चाहिए, मैं इसे जानता हूँ या मैं इसे नहीं जानता हूँ। इसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतिरिक्त उसको अधिक गृहकृत्य करना नहीं कल्पता है। इसकी अवधि दस मास की है।

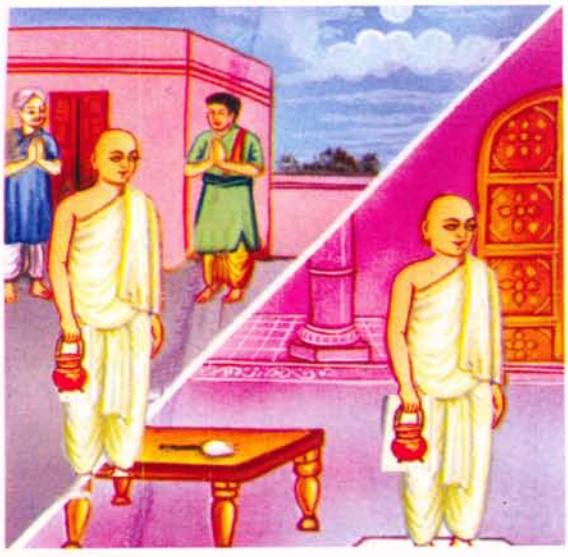

11. श्रमण भूत प्रतिमा :- इस प्रतिमा में श्रावक की अपनी समस्त चर्या साधु के समान होती है। वह मस्तक के बालों का मुण्डन करवा लेता है या लोच करता है। वह साधु का आचार रजोहरण, पात्रादिग्रहण कर साधु के वेष में साधु की तरह विचरता है। वह अपने कुटुंबीजनों या परिचित घरों में भिक्षावृत्ति के लिए जाता है। वहाँ ''प्रतिमाप्रतिपन्नाय श्रमणोपासकाय भिक्षां दत्त'' अर्थात् प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो, इस प्रकार बोल कर आहार ग्रहण करता है। आहारदाता को 'धर्मलाभ' नहीं देता है। यदि उसे कोई मुनि समझकर वंदन करता है, तो वह यह कह देता है कि मैं तो प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ और आपसे क्षमा चाहता हूँ। इस प्रतिमा की अवधि ग्यारह मास की है।

गृहस्थ उपासक साधु से इस अर्थ में भिन्न होता है कि

1. पूर्वराग के कारण कुटुम्ब के लोगों या परिचितजनों के यहाँ ही भिक्षार्थ जाता है।

2. केश लुंचन के स्थान पर मुण्डन करवा सकता है।

3. साधु के समान विभिन्न ग्राम एवं नगरों के कल्पानुसार विहार नहीं करता है। अपने निवास नगर में ही रह सकता है।

पाँचवी प्रतिमा से लेकर 11वीं प्रतिमा तक की जघन्य काल अवधि एक, दो, तीन दिन की कही गई है। उत्कृष्ट प्रतिमा धारी श्रावक वर्धमान परिणाम के कारण दीक्षित हो जाय या आयु पूर्ण कर ले तो जघन्य या मध्यम काल की उसकी अवधि समझनी चाहिए। यदि दोनों में से कुछ भी न हो तो प्रतिमा का काल उत्कृष्ट समझना चाहिए । सब प्रतिमाओं का समय कुल मिलाकर साढे पाँच वर्ष (66 महीने) होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि श्रावक-साधना की उपरोक्त भूमिकाओं और कक्षाओं की व्यवस्था इस प्रकार से की गई है कि जो साधक-वासनात्मक-जीवन से एकदम ऊपर उठने का सामर्थ्य नहीं रखता, वह निवृत्ति की दिशा में क्रमिक-प्रगति करते हुए अन्त में पूर्ण निवृत्ति के आदर्श को प्राप्त कर सकता है। आज इन प्रतिमाओं का आंशिक अनुसरण ही देखा जाता है।

For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधिमरण

जीवन की दो शाश्वत घटनाएँ है। एक जन्म और दूसरा मरण। संसार के प्रत्येक प्राणी को इन दो घटनाओं से गुजरना पड़ता है। जन्म के समय हर्ष एवं मृत्यु के समय शोक, यह जगत का व्यवहार है। आत्मा सर्वदा शाश्वत है, अजर है, अमर है। उसका न जन्म होता है और न मरण। हाँ, आत्मा जिस पर्याय को धारण करती है, उसका जन्म और मरण अवश्य होता है। जो मरण समाधिपूर्वक होता है, वहाँ मृत्यु का महोत्सव मनाया जाता है।

जैन आगम साहित्य में ऐसे अनेक साधकों का जीवन मिलता है, जिन्होंने मरण के समय समाधिव्रत ग्रहण किया था। अन्तकृतदशांगसूत्र एवं अनुत्तरोपातिक सूत्र में उन श्रमण साधकों का एवं उपासकदशांगसूत्र में आनंद, कामदेव आदि उन गृहस्थ साधकों का जीवन दर्शन उपलब्ध है, जिन्होंने अपनी जीवन की संध्या-वेला में समाधि-मरण का व्रत लिया था।

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान महावीर स्वामी ने मरण के दो प्रकार बताए है - अकाममरण या असमाधिमरण और सकाम-मरण या समाधिमरण। अकाममरण या अनिच्छापूर्वक मरण में मृत्यु मनुष्य पर शासन करती है जबकि समाधिमरण में मनुष्य का मृत्यु पर शासन होता है। पहले को बालमरण और दूसरे को पंडितमरण भी कहा गया है।

एक मौत अज्ञानी की है दूसरी ज्ञानीजन की। अज्ञानी विषयासक्त होता है इसलिए वह मृत्यु से डरता है। जबकि सच्चा ज्ञानी अनासक्त होता है अत: वह मृत्यु से नहीं डरता है। साधक के प्रति भगवान महावीर स्वामी का संदेश यही है कि साधक न आसक्तिपूर्ण जीने की इच्छा रखे और न ही रोगादि से घबराकर शीघ्र मृत्यु की आकांक्षा करे, अपितु जीवन और मृत्यु दोनों विकल्पों से मुक्त होकर अनासक्त बनकर रहे।

मरण के प्रकार

उत्तराध्ययन सूत्र में मरण दो प्रकार के बताये गये हैं 1. अकाम मरण और 2. सकाम मरण

1. अकाम मरण : अज्ञानवश-विषय-वासनाओं एवं भोगों में आसक्त रहना, धर्म-मार्ग का उल्लंघन कर अधर्म को स्वीकार करना तथा मिथ्या जगत् को सत्य समझकर हमेशा मृत्यु से भयभीत रहना आदि दुर्गुण बाल जीव के हैं। इन जीवों के मरण को ही अकाममरण या बालमरण कहा गया है। बाल शब्द का अर्थ मूर्ख, मूढ़, नासमझ आदि होता है। मृत्यु की शाश्वत सत्यता को जानते हुए भी

For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मृत्यु के उपस्थित होने पर उसे अस्वीकार करना ही बाल मरण है। यहाँ अकाम शब्द उद्देश्यहीन मरण को कहने वाला माना गया है।

जो व्यक्ति विषयों में आसक्त होने के कारण मरना नहीं चाहता, किन्तु आयु पूर्ण होने पर विवशतापूर्वक दीन भाव से मरता है, उस व्यक्ति के मरण को अकाममरण कहते है।

बाल मरण बारह प्रकार का है

1. **वलय मरण** :- भूख-प्यास से तड़फते हुए मरना।

2. **वशार्त मरण** :- इन्द्रिय-विषयों की आसक्ति में दुखी होकर मरना।

3. **अन्तःशल्य मरण** :- मन में कपट रखकर मरना अथवा शरीर में कोई तीक्ष्ण शस्त्रादि घुस जाने से रोते-रोते मरना।

4. **तद्भवमरण** :- मरकर पुनः उसी भव में उत्पन्न होना।

5. **गिरि पतन मरण** :- पर्वत से गिरकर मरना।

6. **तरु पतन मरण** :- पेड़ से गिरकर मरना।

7. **जल-प्रवेश मरण** :- पानी में डूबकर मरना।

8. **ज्वलन प्रवेश मरण** :- अग्नि में जलकर मरना।

9. **विष भक्षण मरण** :- जहर खाकर मरना।

10. **शस्त्रावपाटन मरण** :- शस्त्रघात से मरना।

11. **विहानस मरण** :- फाँसी लगाकर मरना।

12. **गृद्धपृष्ठ मरण** :- हाथी आदि के कलेवर में प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ-साथ गिद्ध आदि उस जीवित शरीर को भी नोंच-नोंच कर मार डालते हैं, उस स्थिति में मरना।

2. **सकाम मरण** :- जो व्यक्ति विषयों के प्रति अनासक्त होने के कारण मृत्यु के समय संत्रस्त एवं भयभीत नहीं होता। किन्तु उसे अनिवार्य घटना मानकर प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का स्वागत करता है इतना ही नहीं, उसे उत्सव रूप मानता है, उस व्यक्ति के मरण को सकाम मरण या समाधिमरण कहते हैं।

जैन परम्परा में सकाममरण, समाधिमरण, पंडितमरण, संथारा, संलेखना आदि निष्काम मृत्युवरण के ही पर्यायवाची नाम हैं। आचार्य समन्तभद्र संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि आपत्ति, अकाल, अतिवृद्धावस्था एवं असाध्य रोगों में शरीर त्याग करने को संलेखना कहते है अर्थात् जिन स्थितियों में मृत्यु अनिवार्य सी हो गई हो उन परिस्थितियों में मृत्यु के भय से निर्भय होकर देहासक्ति का विसर्जन कर मृत्यु का स्वागत करना ही संलेखना व्रत है।

समाधिमरण के भेद

जैन आगम ग्रन्थों में मृत्युवरण के अवसरों की अपेक्षा के आधार पर समाधिमरण के दो भेद किये गये हैं। 1. सागारी संथारा 2. सामान्य या यावज्जीवन संथारा।

1. सागारी संथारा :- जब अकस्मात् कोई ऐसी विपत्ति उपस्थित हो, जिसमें से जीवित बच निकलना सम्भव प्रतीत न हो, उपसर्ग, आपत्ति, भयंकर पीड़ा या मरणादिक कष्ट, जैसे आग में गिर जाना, जल में डूबने की स्थिति हो जाना, अथवा हिंसक पशु या किसी ऐसे दुष्ट व्यक्ति के अधिकार में फंस जाना, जहाँ सदाचार से पतित होने की सम्भावना हो, ऐसे संकटपूर्ण अवसरों पर जो संथारा ग्रहण किया जाता है उसे सागारी-संथारा कहते हैं। यह संथारा मृत्यु पर्यन्त के लिए नहीं होता। जिस परिस्थिति विशेष के कारण वह संथारा किया गया है वह परिस्थिति यदि शांत और समाप्त हो जाती है, आपत्ति और उपसर्ग दूर हो जाते है तो उस संथारे की मर्यादा पूर्ण होने से वह पार लिया जाता है।

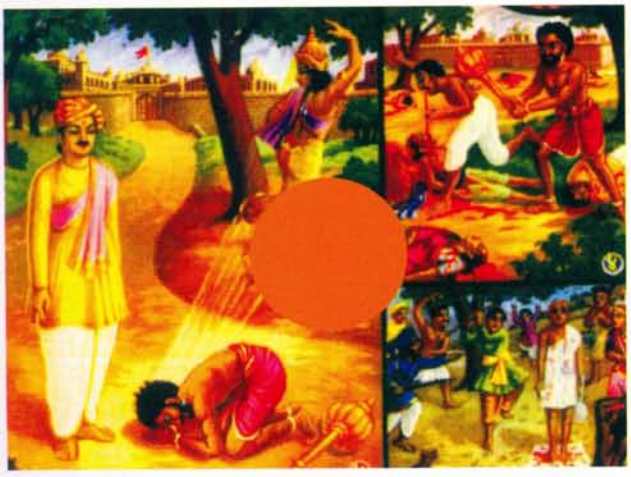

राजगृह नगरी के निवासी सुदर्शन सेठ ने नगर के बाहर गुणशीलक उद्यान में भगवान महावीर स्वामी का पदार्पण सुना किन्तु मार्ग में अर्जुनमाली का आंतक छाया हुआ था, फिर भी दृढ़ निश्चयी वीर सुदर्शन सेठ मृत्यु से न डरकर प्रभु के दर्शनार्थ चले गये। अर्जुनमाली को साक्षात् मृत्यु के रूप में सामने आता देखकर सुदर्शन सेठ वहीं एक स्थान पर स्थिर होकर भगवान महावीर स्वामी को वन्दन करते हुए आलोचनादि से आत्म शुद्धि करते हैं और आपत्ति पर्यन्त चारों आहार तथा अठारह पापस्थान एवं शरीरादि को भी त्याग करते हैं। उसमें वे इस प्रकार आगार (छूट) रखते हैं, यदि मैं इस उपसर्ग से मुक्त हो जाऊँ तो मैं आहारादि ग्रहण करूँगा और यदि उपसर्ग से मुक्त नहीं होऊँ तो मुझे जीवन भर आहार आदि का प्रत्याख्यान है। जब सुदर्शन सेठ का उपसर्ग टल गया तब उन्होंने सागारी संथारा पार लिया।

प्रतिदिन रात्रि में सोते समय भी निम्न दोहे के द्वारा सागारी संथारा लिया जा सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

''आहार, शरीर, उपधि पच्चखूँ पाप अठार।

मरण पाऊँ तो वोसिरे, जीऊँ तो आगार।।''

अर्थात् मैं आहार, शरीर, उपधि यानि समस्त वस्तुओं का त्याग करके अठारह पाप-स्थान का त्याग करता हूँ। यदि सुबह तक जीवन रहा तो आहारादि सब पुनः ग्रहण करूँगा।

यह अनुभव सिद्ध बात है कि सोते समय मानव की चेतना शक्ति भी सो जाती है, शरीर भी निश्चेष्ट हो जाता है तो उस समय व्यक्ति होश में नहीं रहता। यह ''निद्रा'' एक प्रकार से अल्पकालिक मृत्यु जैसे ही है। उस समय साधक अपनी सुरक्षा का प्रयास नहीं कर सकता। इसलिए जैनाचार्यों ने सागारी संथारा द्वारा जीवन और मरण से सावधान रहने का निर्देश दिया ताकि वह जीने के मोह से मृत्यु को न भूल जाए बल्कि मौत को भी प्रतिक्षण याद रखे।

2. सामान्य या यावज्जीवन संथारा :- जब स्वाभाविक जरावस्था अथवा असाध्य रोगों के कारण पुनः स्वस्थ होकर जीवित रहने की समस्त आशाएँ समाप्त हो जाए तब यावज्जीवन तक जो देहासक्ति एवं शरीर पोषण के प्रयत्नों का त्याग किया जाता है और जो मृत्यु पर पूर्ण होता है वह सामान्य संथारा है।

सामान्य संथारा ग्रहण करने के लिए जैन आगमों में निम्न स्थितियाँ आवश्यक मानी गयी है।

1. जब शरीर की सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यो के सम्पादन करने में अयोग्य हो गयी हो,

2. जब शरीर का मांस एवं शोणित सूख जाने से शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया हो,

3. पचन-पाचन, आहार-निहार आदि शारीरिक क्रियाएँ शिथिल हो गयी हों और इनके कारण साधना और संयम का परिपालन सम्यक् रीति से होना सम्भव नहीं हो, इस प्रकार मृत्यु का जीवन की देहरी पर उपस्थित हो जाने पर ही सामान्य संथारा ग्रहण किया जा सकता है।

सामान्य संथारा तीन प्रकार का होता है :-

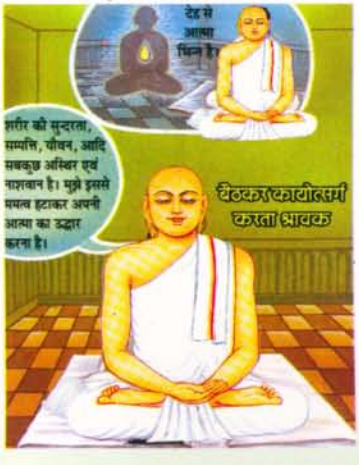

a) भक्तप्रत्याख्यान :- यावज्जीवन के लिए तीन या चार प्रकार के आहार का त्यागपूर्वक जो मरण होता है, उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते है।

b) इंगित मरण या इंगिनीमरण :- प्रतिनियत स्थान पर अनशनपूर्वक मरण को इंगिनीमरण कहते हैं। इस मरण में साधक अपने अभिप्राय से अपनी सेवा-शुश्रुषा करता है, किन्तु

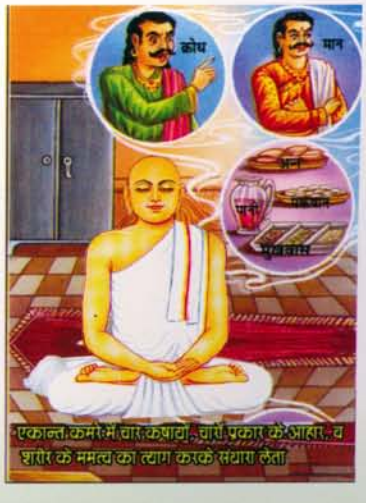

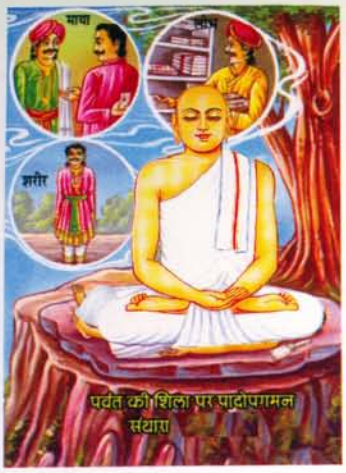

दूसरे मुनियों से सेवा नहीं लेता। यह मरण चारों प्रकार के आहार त्याग करने वालों को ही होता है।

c) पादोपगमन :- अपने पैरों से संघ से निकल कर योग्य स्थान में जाकर स्थित अवस्था में चारों प्रकार के आहार के त्याग के साथ-साथ शारीरिक क्रियाओं का निरोध करते हुए मृत्यु पर्यन्त निश्चल रूप से लकड़ी के तख्ते के समान स्थिर होकर देहत्याग करना पादोपगमण मरण है। इस मरण को स्वीकार करनेवाला साधक न स्वयं शरीर की सेवा करता है, न दूसरों से सेवा करवाता है। वह अपने शरीर के प्रति पूर्णत: ममत्व का त्याग करते हुए इस प्रकार भेद-विज्ञान करता है।

'देह मरण से मै नही मरता, अजरामर है मेरा पद !

देह विनाशी मै अविनाशी, देह जाए तो क्यों उदासी ?'

समाधिमरण में साधक देह को समभावपूर्वक त्याग करता है। देह त्याग के समय वह जरा भी विचलित नहीं होता है और न ही उसे मृत्यु का भय सताता है। ऐसा तभी सम्भव है जब साधक अपनी पर्याय (शरीर) से ममत्व न रखे। शरीर तो साधना में साधन मात्र है। साध्य तो आत्मा का विकास है।

समाधिमरण में विवेक की प्रधानता रहती है। इसमें मृत्यु की इच्छा नहीं रहती है। इसमें साधक राग-द्वेष के दल-दल से सर्वथा मुक्त-विमुक्त रहे, साथ ही सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सम्यक्त्व रहे। सब प्रकार की आधि व्याधि से ध्यान हटाकर चित्त को एकाग्र करे और शांति के साथ धर्म-ध्यान, तप आराधना में लग जाये, जिससे कषाय कृष या क्षीण होते जायेंगे और वैराग्यमय भावनाओं में वृद्धि होने लगेगी।

संलेखना या संथारा के पांच अतिचार

उपासकदशांग सूत्र में संलेखना के निम्न पांच अतिचार का उल्लेख है - इहलोकासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीविआससंप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे । प्रतिक्रमण सूत्र में भी संलेखना के पांच अतिचार बताए गये है।

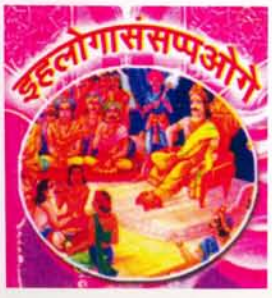

1. इहलोक-आशंसा-प्रयोग :- ऐहिक-सुखों की कामना करना। धर्म के प्रभाव से मुझे इहलोक सम्बन्धी राजऋद्धि आदि की प्राप्ति हो, ऐसी इच्छा करना, जैसे मैं मरकर राजा या समृद्धिशाली बनूं।

2. परलोक-आशंसा-प्रयोग :- पारलौकिक सुखों की कामना करना अर्थात् मृत्यु के पश्चात् देव-देवेन्द्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि सुखों की कामना करना।

3. **जीवित-आशंसा-प्रयोग** :- जीवन जीने की आकांक्षा करना-जैसे कीर्ति आदि अन्य कारणों के वशीभूत होकर सुखी अवस्था में अधिक जीने की इच्छा करना।

4. **मरण-आशंसा-प्रयोग** :- मृत्यु की आकांक्षा करना। जैसे-जीवन में शारीरिक प्रतिकूलता में, भूख-प्यास या अन्य दुख आने पर मृत्यु की इच्छा करना आदि।

5. **काम-भोग-आशंसा-प्रयोग** :- इन्द्रियजन्य विषयों के भोगो की आकांक्षा करना।

समाधिमरण ग्रहण करने की विधि

शास्त्रों में समाधिमरण ग्रहण करने की विधि निम्नानुसार बताई गई है - सर्वप्रथम मलमूत्रादि अशुचि विसर्जन के स्थान का अवलोकन कर संथारा या नरम तृणों की शैय्या तैयार कर ली जाती है। तत्पश्चात् अरिहंत, सिद्ध और धर्माचार्यों को विनयपूर्वक वंदन कर पूर्वगृहीत प्रतिज्ञाओं में लगे हुए दोषों की आलोचना कर उनका प्रायश्चित ग्रहण किया जाता है। इसके बाद समस्त प्राणियों से क्षमा याचना की जाती है और अन्त में साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैं पूर्णतः हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया लोभ यावत् मिथ्यात्व शल्य रूप अठारह पापस्थानों से विरत होता हूँ। यावज्जीवन के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग एवं शरीर के ममत्व एवं पोषण क्रिया का विसर्जन करता हूँ। मेरा यह शरीर जो मुझे अत्यन्त प्रिय था, मैंने इसकी बहुत रक्षा की थी, कृपण के धन के समान इसे सम्भालता रहा था, इस पर मेरा पूर्ण विश्वास था (कि यह मुझे कभी नहीं छोड़ेगा) इसके समान मुझे अन्य कोई प्रिय नहीं था। इसलिए मैंने इसे शीत, गर्मी, क्षुधा, तृष्णा आदि अनेक कष्टों से एवं विविध रोगों से बचाया और सावधानीपूर्वक इसकी रक्षा करता रहा । अब मैं इस शरीर का विसर्जन करता हूँ और इसके पोषण एवं रक्षण के प्रयासों का परित्याग भी करता हूँ।

वर्तमान में अंत समय में रानी पद्मावती आराधना, पुण्य प्रकाश का स्तवन आदि सुनाए जाते है।

* आत्मिक विकास का स्वरूप *

चौदह गुणस्थान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चौदह गुणस्थान

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा विकासशील है। उसमें विकास की असीम सम्भावनाएँ रही हुई हैं। विकास तीन प्रकार का होता है - शारीरिक विकास, मानसिक विकास तथा आध्यात्मिक विकास। आध्यात्मिक विकास का अर्थ है - आत्मा के भीतर रहे हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों का विकास। प्रत्येक आत्मा में ये गुण कम या अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। इन गुणों पर अज्ञान तथा मोह का आवरण छाया हुआ है। वह ज्यों-ज्यों घटता है, त्यों-त्यों आत्मा विकास के मार्ग पर आगे बढती है। इस विकास के स्तर को अर्थात् आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्था को गुणस्थान कहा जाता है या जीव द्वारा अपने विकास के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की अपेक्षा से उपलब्ध स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कहते हैं।

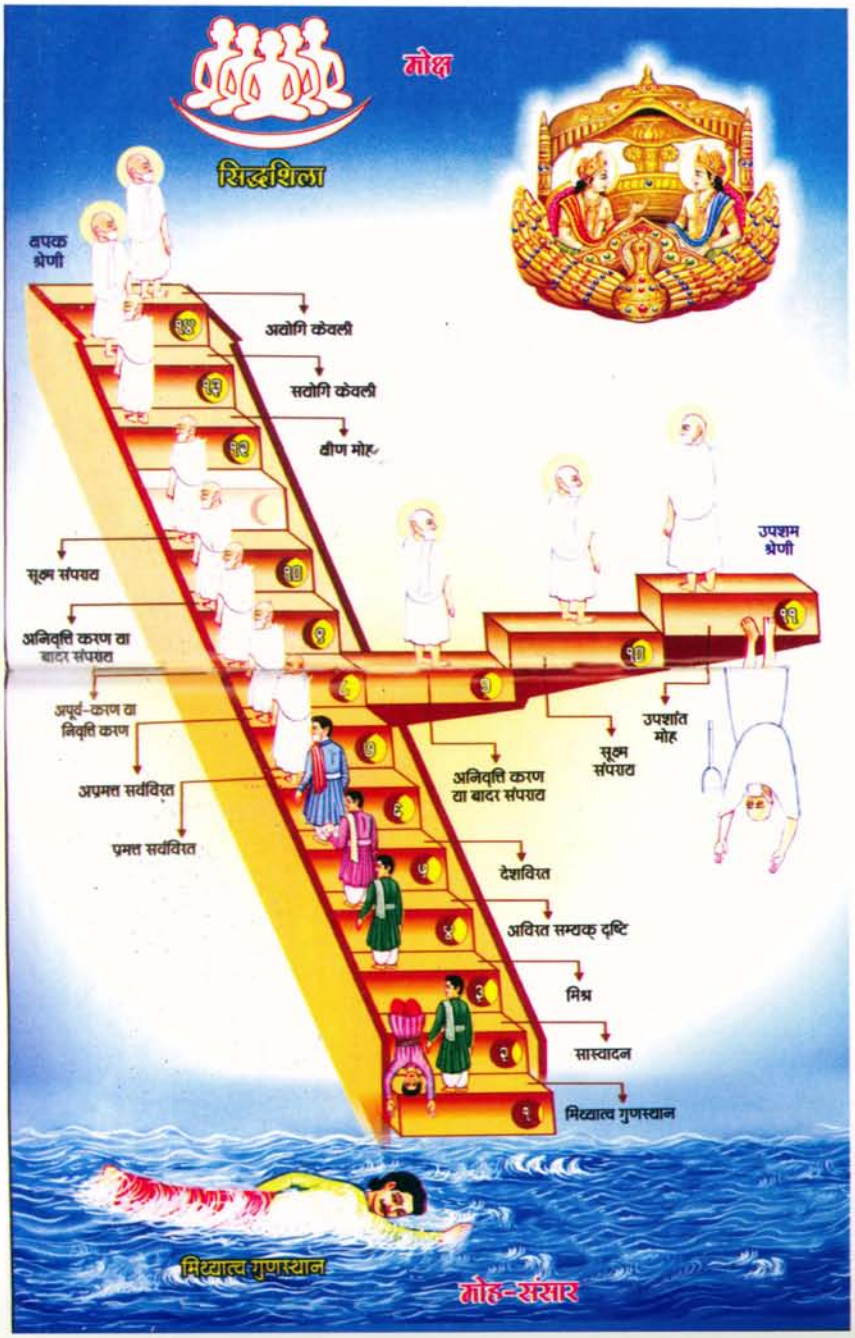

गुणस्थान शब्द में स्थान शब्द अधिकरणवाची नहीं है बल्कि भेद दर्शक है। प्रत्येक वस्तु स्वाभाविक रूप से ही अपने-अपने गुण से युक्त होती है। नीम का गुण कडवाहट तो गन्ने का गुण मधुरता है, उसी प्रकार आत्मा का मुख्य गुण ज्ञान है। परन्तु मात्र ज्ञानावरणीय कर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के क्षयोपशम से आत्मा का विकास तथा आत्मगुणों की प्राप्ति नहीं होती। आत्मिक विकास के लिए मोहनीय कर्म के क्षयोपशम की आवश्यकता होती है। क्योंकि मोहनीय कर्म ही आत्मा को मिथ्यात्व के दल-दल में फंसाता है। जब तक मिथ्यात्व का नाश नहीं होता, तब तक आत्मा सम्यक्त्वी नहीं होती और जब तक दृष्टि सम्यग् और शुद्ध नहीं होती, तब तक आत्मा सारे सूत्र और शास्त्र पढ़ लेने पर भी अज्ञानी ही रहती है। मिथ्यात्वी या अभव्य जीव के ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र क्षयोपशम होने पर ज्ञान गुण बड़े पैमाने पर प्रगट होता है। इससे वह साढे नौ पूर्व तक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। परन्तु इससे आगे न वह बढ पाता है न अपनी आत्मा का विकास कर पाता है। इसलिए गुणस्थान का कथन मुख्यतया ज्ञान गुण पर नहीं अपितु मोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम या उपशम आदि पर आधारित है। अतः मोह और योग के निमित्त से होनेवाले श्रद्धा और चारित्र गुणों की अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। आगमों में इसे जीवस्थान कहते हैं।

गुणस्थानों के नाम

1. मिथ्यात्व, 2. सास्वादन (सासादन), 3. मिश्र (सम्यग् मिथ्यादृष्टि), 4. अविरत सम्यग्दृष्टि, 5. देशविरत, 6. प्रमत्तसंयत, 7. अप्रमत्तसंयत, 8. निवृत्तिकरण (अपूर्वकरण), 9. अनिवृत्ति करण, 10. सूक्ष्मसंपराय, 11. उपशांतमोह, 12. क्षीणमोह, 13. सयोगी केवली और 14. अयोगी केवली

1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान :-

मिथ्या - विपरीत, उल्टी

दृष्टि - समझ, श्रद्धा, प्रतिपत्ति

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की समझ, श्रद्धा या मान्यता विपरीत हो, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। उस जीव का जो गुणस्थानक होतो है वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक कहलाता है। इस गुणस्थान में दर्शनमोह और चारित्रमोह-दोनों की प्रबलता होती है। जिससे आत्मा यथार्थज्ञान और सत्यानुभूति से वंचित रहती है। यर्थाथ बोध के अभाव के कारण वह पर में स्व की बुद्धि रखता है, पर पदार्थो से उसे सुख की कामना रहती है। अथवा जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है उसे उस स्वरूप में न मानकर अन्य स्वरूप में मानता है। जैसे धतूरे के बीज को खानेवाला मनुष्य सफेद वस्तु को भी पीली देखता है वैसे ही मिथ्यात्वी मनुष्य की दृष्टि भी विपरीत हो जाती है अर्थात् कुदेव-कुगुरु और कुधर्म को सुदेव-सुगुरु सुधर्म के रूप में मानता, जानता और पूजता है। उसे आत्मा तथा अन्य, चैतन्य व जड का विवेकज्ञान ही नहीं होता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव के

स्वरूप विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

जिज्ञासा :- जब जीव की दृष्टि मिथ्या-विपरीत है तो उसमें मिथ्यात्वी जीव के स्वरूप को गुणस्थानक कैसे कहा जा सकता है?

समाधान :- यद्यपि मिथ्यात्वी जीव की दृष्टि विपरीत है तो भी वह किसी अंश में यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूप में जानता तथा मानता है। इसलिए उसकी चेतना के स्वरूप विशेष को गुणस्थान कहते हैं।

जिस प्रकार सघन बादलों का आवरण होने पर भी सूर्य का प्रकाश सर्वथा लुप्त नहीं होता अपितु दिन-रात का भेद किया जा सके इतना प्रकाश होता ही है, उसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होने पर भी जीव का दृष्टिकोण सर्वथा ढक नहीं जाता है, किन्तु आंशिक रूप में मिथ्यात्वी की दृष्टि भी यथार्थ होती है। इसके सिवाय निगोदिया जीव को भी आंशिक रूप से एक प्रकार का अव्यक्त स्पर्श मात्र उपयोग होता है। यदि न माना जाये तो निगोदिया जीव अजीव कहलायेगा। इसलिए मिथ्यात्वी जीव को भी गुणस्थानक माना जाता है।

जिज्ञासा :- जब मिथ्यात्वी की दृष्टि को किसी अंश में यथार्थ होना मानते हैं तो उसे सम्यग्दृष्टि कहने और मानने में क्या आपत्ति है?

समाधान :- यह ठीक है कि किसी अंश में मिथ्यात्वी की दृष्टि यथार्थ होती है, लेकिन इतने मात्र में उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि द्वादशांग सूत्रोक्त एक अक्षर पर भी जो विश्वास नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है, जैसे जमाली। सम्यक्त्वी जीव की यह विशेषता होती है कि

''तमेव सच्चं निस्संकं, जं जिणेहिं पवेइयं''

वह जिनेश्वर, सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित प्रत्येक अक्षर को सत्य मानता है व निशंक होकर श्रद्धान करता है। सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी जीव में यही मूलभूत अंतर है कि सम्यक्त्वी जीव को सर्वज्ञ कथित नवतत्वादि का यथार्थ स्वरूप समझ में आये अथवा न आये, वह उसे सर्वज्ञ प्ररूपित होने से संपूर्ण सत्य मानकर अखंड श्रद्धा से स्वीकार करता है। जबकि मिथ्यात्वी जीव स्वयं को समझ में आये उतना ही सत्य एवं जो न समझ में आये उसे असत्य एवं मिथ्या मानता है। अतः उसकी दृष्टि आंशिक सत्य होने पर भी उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता।

इस गुणस्थान पर रही हुई सभी आत्माओं का स्तर एक समान नहीं होता है। उनमें भी तारतम्य है। इस गुणस्थान पर रहने वाली ऐसी अनेक आत्माएँ होती है जो राग-द्वेष की तीव्रता को दबाए हुए होती हैं। उनकी अनंतानुबंधी कषाय दमित होती है। वे यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य के सर्वथा अनुकूलगामी तो नहीं होती है, तो भी उनका बोध व चारित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा होता है, इसे मार्गाभिमुख अवस्था भी कहते हैं। इनमें क्रमशः मिथ्यात्व की अल्पता

होने पर जीव उस गुणस्थानक के अंतिम चरण में ग्रन्थिभेद की प्रक्रिया करता है और उनमें सफल होने पर विकास के अगले चरण सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त करता है।

ग्रन्थिभेद का विवेचन गुणस्थानक के बाद किया गया है।

मिथ्यात्व के भेद :-

काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व के तीन भेद हैं

1. **अनादि-अनंत मिथ्यात्व :-** जिन जीवों में अनादिकाल से मिथ्यात्व है तथा अनंतकाल तक रहेगा, ऐसे अभव्य तथा जातिभव्य जीवों का मिथ्यात्व अनादि-अनंत है।

2. **अनादि-सांत मिथ्यात्व :-** जिन जीवों में मिथ्यात्व का उदय अनादिकाल से है परंतु जिसका नाश अवश्यमेव होगा, ऐसे भव्य जीवों का मिथ्यात्व अनादि-सांत है।

3. **सादि-सांत मिथ्यात्व :-** जो जीव मिथ्यात्व का उदय-विच्छेद करके उपर के गुणस्थानों में चढकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर पुनः मिथ्यात्व में आता है, तब उस जीव के मिथ्यात्व का प्रारंभ होने से सादि, और ऐसा सम्यक्त्व पतित जीव मिथ्यात्वदशा में अधिकतम देशोन (कुछ कम) अर्धपुद्गल परावर्त काल रहने के पश्चात् निश्चित ही मोक्ष में जानेवाला होने से मिथ्यात्व का विच्छेद करके सम्यक्त्व का उपार्जन करता है। इसलिए यह सादि-सांत मिथ्यात्व कहलाता है।

मिथ्यात्व के पाँच भेद :-

1. **आभिग्रहिक मिथ्यात्व :-** मेरी मान्यता ही सत्य है, अर्थात् जो मैंने माना है, वही सत्य है, ऐसा मानना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

2. **अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व :-** सभी धर्म समान है, सभी धर्म सत्य है, ऐसा मानना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

3. **सांशयिक मिथ्यात्व :-** वीतराग परमात्मा की वाणी में शंका-संदेह-संशय करना सांशयिक मिथ्यात्व है।

4. **आभिनिवेशिक मिथ्यात्व :-** अपने सिद्धांत/मत को गलत जानते हुए भी दृढ अभिमान और आग्रहपूर्वक उसे पकड़े रखना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है।

5. **अनाभोगिक मिथ्यात्व :-** वस्तु तत्व को जानना ही नहीं, अर्थात् विशेष ज्ञान का अभाव, अज्ञानी बने रहना, अनाभोगिक मिथ्यात्व है।

स्थानांग सूत्र में मिथ्यात्व के दस प्रकार बताये गये हैं :-

1. अधर्म में धर्म की बुद्धि रखना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2. धर्म में अधर्म की बुद्धि रखना।

3. उन्मार्ग में सन्मार्ग की बुद्धि रखना।

4. सन्मार्ग में उन्मार्ग की बुद्धि रखना।

5. अजीव को जीव मानना।

6. जीव को अजीव मानना।

7. असाधु को साधु मानना।

8. साधु को असाधु मानना।

9. मुक्त को अमुक्त मानना।

10. अमुक्त को मुक्त मानना।

इस प्रकार मिथ्यात्व के भिन्न-भिन्न अपेक्षा से विविध भेद शास्त्रों में बताये गये हैं।

जितने जीव मोक्ष जाते हैं, अव्यवहार राशि (जिन जीवों ने एक बार भी निगोद (सूक्ष्म वनस्पति व साधारण वनस्पति) अवस्था छोड़कर दूसरी जगह जन्म नहीं लिया हो) से उतने ही जीव व्यवहार राशि (जिन्होंने निगोद को छोड़कर दूसरी जगह एक बार भी जन्म ग्रहण कर लिया है) में आते है। जब अर्धपुद्गल परावर्तन काल संसार परिभ्रमण शेष रहता है, तब से वह मिथ्यादृष्टि भव्य जीव शुक्लपाक्षिक कहलाता है। इसको हम एक व्यवहारिक दृष्टान्त से इस प्रकार समझ सकते हैं। जैसे किसी को एक करोड़ रूपया उधार देना था, उसने उसमें से निन्यानवें लाख निन्यानवें हजार, नौ सौ साढे निन्यानवें रूपये (99,99,999.50) तो चुका दिये, केवल आधा रूपया देना शेष रहा। उसी प्रकार इस जीव का अर्द्ध पुद्गल परावर्तन संसार परिभ्रमण शेष रहा। अर्थात् शुक्लपाक्षिक हो गया। यहाँ से अनादि मिथ्यादृष्टि पहली बार सीधा चतुर्थ गुणस्थान में ही जायेगा।

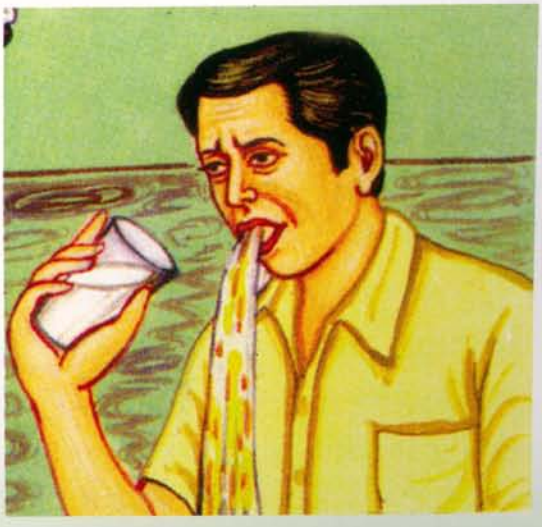

2. सास्वादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान :- जिसकी दृष्टि सम्यक्त्व के किंचित् स्वाद सहित होती है उस व्यक्ति के गुणस्थान को सास्वादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते है।

सम्यग्दृष्टि जीव औपशमिक सम्यक्त्व से पतित होकर जब तक पहले गुणस्थान में नहीं पहुँच पाता जब तक उसकी आत्मा में आंशिक रूप से सम्यक्त्व का आस्वाद रहता है, उस अवस्था को सास्वादन गुणस्थान कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति खीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

खाकर वमन करता है, किन्तु कुछ समय के लिए उसके मुँह में खीर का आस्वादन अवश्य रहता है, इसी प्रकार इस गुणस्थान में भी जीव को सम्यक्त्व का स्वाद रहता है।

आत्मा प्रथम गुणस्थान से सीधे दूसरा गुणस्थान प्राप्त नहीं करती है, किन्तु ऊपर के गुणस्थानों से पतित होने वाली आत्मा ही इसकी अधिकारिणी बनती है। अतः यह गुणस्थानक आरोहण (उपर चढने के) क्रम से नहीं बल्कि अवरोहण (नीचे उतरने के) क्रम से प्राप्त होता है। इसका काल जघन्यतः एक समय तथा उत्कृष्ट 6 आवलिका बताया गया है। उक्त काल पूर्ण होते ही जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

3. मिश्रगुणस्थान :- जिसकी दृष्टि मिथ्या और सम्यक् दोनों परिणामों से मिश्रित है वह मिश्र या सम्यक् मिथ्यादृष्टि कहलाता है। इस गुणस्थान में जीव को सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिला जुला रूप रहता है, जिस प्रकार दही और मिश्री के मिश्रण से निर्मित हुए श्रीखंड का स्वाद न केवल दही रूप होता है, न मिश्री रूप, किन्तु उसका स्वाद कुछ खट्टा-कुछ मीठा अर्थात् मिश्रित रूप हो जाता है उसी प्रकार आत्मा के गुणों को घात करनेवाले मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से जीव को एकान्त सम्यक्त्व की शुद्धता या एकान्त मिथ्यात्व की मलिनता का अनुभव नहीं होता परन्तु दोनों के मिले जुले मिश्रभाव का अनुभव होता है। इसमें जीव को जिनवाणी पर न श्रद्धा होती है, न अश्रद्धा। आत्मा सत्य और असत्य के बीच झूलती रहती है।

मिश्रगुणस्थान में जीव को न परभव की आयु का बंध होता है न उसका मरण होता है। वह सम्यक्त्व या मिथ्यात्व दोनों में से किसी एक परिणाम को प्राप्त करके ही मरता है। यह गुणस्थान जीव चढते समय या उपर के गुणस्थानों से गिरते समय दोनों स्थितियों में प्राप्त कर सकता है, किन्तु यहाँ ध्यान रखने योग्य है कि प्रथम गुणस्थान से तृतीय गुणस्थान पर वे ही आत्माएँ जा सकती है जिन्होंने कभी चतुर्थ गुणस्थान का स्पर्श किया हो। कहने का आशय यह है कि चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ का बोध कर पुनः प्रथम गुणस्थान में आई हुई है वे आत्माएँ ही मिश्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर तृतीय गुणस्थान को प्राप्त कर सकती है, लेकिन जिन आत्माओं ने कभी सम्यक्त्व का स्पर्श ही नहीं किया हो, वे अपने विकास में प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ में ही आती है, क्योंकि संशय उसे ही हो सकता है, जिसने एक बार यथार्थ का बोध किया हो।

इस गुणस्थान की काल स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है।

4. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान :- जिसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो जाती है, किन्तु अप्रत्याख्यानीय कषाय का उदय होने पर किसी प्रकार का व्रत-नियम ग्रहण नहीं कर सकता उस व्यक्ति के गुणस्थान को अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था में दर्शन और ज्ञान शुद्ध रहता है परन्तु चारित्र या व्रत का ग्रहण नहीं हो सकता। व्यक्ति हिंसा, झूठ, अब्रह्मचर्य आदि को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनैतिक मानते हुए भी उनका त्याग नहीं कर पाता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि को दर्शन सप्तक का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करना होता है। दर्शन सप्तक अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ, मिथ्यात्व मोह, मिश्र मोह और सम्यक्त्व मोह।

इन सात प्रकृतियों का जब क्षय होता है तब क्षायिकसम्यक्त्व होता है और जब उपशम होता है तब औपशमिक सम्यक्त्व होता है और जब क्षयोपशम होता है तब क्षयोपशमिक सम्यक्त्व होता है। अविरतसम्यग्दृष्टि को इन तीनों में से कोई भी सम्यक्त्व हो सकता है।

इस गुणस्थान में सात स्थानों का बंध नहीं होता है 1. नरक, 2. तिर्यंच, 3. भवनपति, 4. वाणव्यन्तर, 5. ज्योतिष, 6. स्त्रीवेद, 7.नपुंसकवेद।

चौथे गुणस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम।

5. देशविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान :- जिस व्यक्ति के व्रत-अव्रत दोनों हो, जो प्रत्याख्यानीयकषाय के उदय से पाप क्रियाओं से सम्पूर्ण निवृत नहीं हो सका, किन्तु अप्रत्याख्यान का अनुदय होने से वह आंशिक रूप से पाप से विरत होता है अर्थात् वह आंशिक रूप से व्रतों का पालन करता है।

इसे विरताविरत, संयतासंयत और देशसंयत भी कहते है, क्योंकि इस गुणस्थान पर रहा हुआ जीव सर्वज्ञ वीतराग के कथन में श्रद्धा रखता हुआ त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है, किन्तु बिना प्रयोजन से स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करता है, अर्थात् त्रस जीवों के त्याग की अपेक्षा से विरत और स्थावर जीवों की हिंसा की अपेक्षा से अविरत होने के कारण विरताविरत आदि नाम दिये गये हैं। श्रावक के बारह व्रतों में से कोई एक, कोई दो यावत् कोई बारह व्रतों को धारण कर सकता है तथा कोई ग्यारह प्रतिमाओं का भी आराधन करता है।

प्रथम चार गुणस्थान चारों गतियों के जीव में होते है, किन्तु पाँचवाँ गुणस्थान मनुष्य और संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय को ही होता है। इस गुणस्थान का आराधक जीव, जघन्य तीसरे भव एवं उत्कृष्ट सात-आठ अर्थात् पन्द्रह भवों में मोक्ष में जाता है। सात भव वैमानिक देवों के और आठ भव मनुष्य के करता है। इसकी काल स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन करोड़ पूर्व है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6. प्रमत्तसंयत गुणस्थान :- छठे गुणस्थान में साधक कुछ और आगे बढ जाता है। वह देशविरत से सर्वविरत हो जाता है। साधक सम्पूर्ण रूप से पाप क्रियाओं से निवृत होकर पंच महाव्रतों को धारण कर साधु बन जाता है। किन्तु उनमें प्रमाद की सत्ता रहती है इसलिए इस गुणस्थान का नाम प्रमत्त संयत रखा गया हैं। यहाँ प्रमत्त का मतलब प्रमादी-आलसी न होकर विशिष्ट कक्षा की जागृती का अभाव है।

इस गुणस्थान का काल जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस गुणस्थान से लेकर 14वें गुणस्थान तक की प्राप्ति केवल संख्यात वर्ष आयुष्य वाले मनुष्य को ही होती है।

7. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान :- जो मुनि विशिष्ट जागृती के अभाव रूप प्रमादो का सेवन नहीं करते, वे अप्रमत्त संयत कहलाते है। उनके गुणस्थान को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा जाता है।

इस गुणस्थान में संयमी महात्मा सतत स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान, तप द्वारा दर्शन व चारित्र गुण को निर्मल करते हैं। परन्तु इस अवस्था में वे मात्र अन्तर्मुहूर्त ही रह सकते हैं।

छठे प्रमत्तसंयत और सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थान में इतना ही अन्तर है कि सातवें गुणस्थान में तनिक भी प्रमाद नहीं होता इसलिए व्रतों में अतिचार नहीं लगते जबकि छट्ठे में प्रमादयुक्त अवस्था होने से व्रतों में अतिचार लगने की संभावना रहती है। ये दोनों गुणस्थान घडी के पेण्डुलम की तरह अस्थिर हैं। अर्थात् कभी सातवें से छठा, कभी छठे से सातवें गुणस्थान क्रमशः होते रहते हैं।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की समय स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक की होती है। इसके बाद वे अप्रमत्त मुनि या तो आठवें गुणस्थान में पहुँचकर उपशम श्रेणी ले लेते है या पुनः छठे गुणस्थान में आ जाते है।

8. अपूर्वकरण (निवृत्तिकरण) गुणस्थान :- पूर्व में कभी नहीं आए ऐसे आत्मा के निर्मल परिणाम जिस गुणस्थान में आते हैं उसे अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। यह आध्यात्मिक-साधना की एक विशिष्ट अवस्था है। इस गुणस्थान का दूसरा नाम निवृत्तिकरण भी है।

निवृत्ति = असमानता, भिन्नता, तरतमता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करण = अध्यवसाय, परिणाम।

जहाँ अध्यवसायों में तरतमता / भिन्नता / असमानता होती है अर्थात् एकरूपता नहीं होती, उसे निवृत्तिकरण गुणस्थान कहते है।

अनादिकाल से जो-जो जीव अतीत में इस गुणस्थानक को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में प्राप्त कर रहे हैं अथवा भविष्यकाल में प्राप्त करेंगें, इन तीनों कालों के समस्त जीव इस गुणस्थान में पहली बार आने पर भी प्रथम समय परस्पर उनके अध्यवसाय समान नहीं होते। उनमें भिन्नता या असमानता होती है। इसी गुणस्थानक के दूसरे समय में जो जीव आये थे, आये है और आयेंगे उन सबके अध्यवसाय भी परस्पर समान न होकर हीनाधिक विशुद्धिवाले होते हैं। इस प्रकार सर्वसमयों में हीनाधिक विशुद्धि वाले अध्यवसाय के स्थान होने से इस गुणस्थानक का दूसरा नाम निवृत्तिकरण है।

अथवा जिस गुणस्थान में अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान, इन तीनों कषायों की जहाँ बादर रूप से निवृत्ति हो जाती है, उसे निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं।

भावों की विशुद्धि के कारण इस गुणस्थानक से आत्मा गुणश्रेणी पर आरूढ होने की तैयारी करती है। श्रेणी दो प्रकार की होती है - 1. उपशमश्रेणी और 2. क्षपकश्रेणी। मोह को उपशांत कर आगे बढने वाला जीव उपशमश्रेणी से आरोहण कर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है। वहाँ मोह के पुन: प्रकट होने पर जीव नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। क्षपकश्रेणी से चढनेवाला जीव मोहनीय कर्म का क्षय करते करते 8-9-10-12 वें से सीधा तेरहवें गुणस्थानक पर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस गुणस्थान में भी जीव ग्रन्थिभेद की क्रिया करता है।

आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है।

9. अनिवृत्तिकरण (बादर सम्पराय गुणस्थान) :- अनिवृत्ति का अर्थ अभेद, समानता है। इस गुणस्थान में सभी काल के सभी जीवों के एक समय में एक समान अध्यवसाय ही होते हैं, अत: अध्यवसाय की समानता के कारण इसे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहा गया है। इस गुणस्थान में जीव प्रत्याख्यानी चौक (क्रोध, मान, माया, लोभ) अप्रत्याख्यानी चौक, हास्य आदि नो कषाय तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया इन 20 प्रकृतियों का उपशम या क्षय करता है। इस गुणस्थान का दूसरा नाम अनिवृत्ति बादर गुणस्थान है।

10. सूक्ष्मसम्पराय :- जिस गुणस्थान में मात्र संज्वलन लोभ कषाय का सूक्ष्म रूप से उदय रहता है, उसे सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान कहते हैं।

मोहनीय कर्म की 28 प्रकृतियों में से 7 प्रकृतियों का सातवें गुणस्थान में, 20 प्रकृतियों का नौवें गुणस्थान में सर्वथा क्षय अथवा उपशम हो जाता है। केवल सूक्ष्म रूप से संज्वलन लोभ रूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कषाय का उदय यहाँ चालू रहता है। इस गुणस्थान के अंत में लोभ का भी सर्वथा उदय-विच्छेद अथवा उपशम हो जाता है।

11. उपशांतमोह गुणस्थान :- जिस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियों का उपशम रहता है, उसे उपशान्त मोहनीय गुणस्थान कहते हैं। आध्यात्मिक विकास करते हुए वे ही जीव इस गुणस्थान पर आते हैं, जो उपशम श्रेणी से आते हैं। इस गुणस्थान में आने वाले जीव निश्चित नीचे गिरते हैं। जैसे गन्दे जल में कतकफल (फिटकरी) घुमाने से गंदगी नीचे बैठ जाती हैं स्वच्छ जल ऊपर रह जाता है, वैसे ही उपशमश्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीयकर्म जघन्य एक समय और उत्कृष्ट एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशांत कर दिया जाता है, जिससे जीव के परिणाम में एकदम वीतरागता और निर्मलता आ जाती है। इसलिए उसे उपशान्त मोह गुणस्थान कहते हैं। उपशमश्रेणी का यह अंतिम गुणस्थान है। यहाँ से जीव का पतन दो कारणों से होता है।

1. भवक्षय और 2. कालक्षय से।

इस गुणस्थान पर मनुष्य आयु पूर्ण होने पर जीव देवगति में अनुत्तर विमान में ही जाता है। कालक्षय होने से जीव जिस क्रम से ऊपर चढ़ता है उसी क्रम से वह नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है। कभी-कभी प्रथम गुणस्थानक तक पहुँच जाता है।

12. क्षीणमोह गुणस्थान :- क्षपक श्रेणी में चढने वाला जीव ही दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थान में आकर वीतरागता एवं यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करता है। मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने से जिस गुणस्थान की प्राप्ति होती है, उसे क्षीणमोह गुणस्थान कहते है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का पतन नहीं होता है। आठ कर्म में मोहनीय कर्म राजा है। जिस प्रकार राजा के भाग जाने से सेना स्वतः भाग जाती है, उसी तरह मोह के परास्त होने पर अन्तर्मुहूर्त में ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय ये तीनों घातीकर्म भी नष्ट होने लग जाते हैं। साधक अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र से युक्त होकर विकास की अग्रिम श्रेणी में चले जाते हैं। इसकी जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है।

13. सयोगीकेवली गुणस्थान :- चार घातीकर्मों का क्षय होने से जिस गुणस्थान में केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त हो और जो योग सहित हो, उसे सयोगी गुणस्थान कहते है। इस गुणस्थान पर साधक को मनोयोग, वचनयोग और काययोग होते है, इसलिए इसे सयोगी कहा गया है। योग के कारण इस गुणस्थान में मात्र एक सातावेदनीय कर्म का ही बंध होता है। कषाय के अभाव में स्थिति और रस का बंध नहीं होता है। अतः यहाँ प्रथम समय में सातावेदनीय का बंध होता है, दूसरे समय में उदय में आता है और तीसरे समय में निर्जरित हो जाता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। इस अवस्था में स्थित व्यक्ति को अर्हम, अरिहंत, सर्वज्ञ, केवली, जिन, जिनेश्वर आदि कहा जाता है।

14. अयोगी केवली गुणस्थान :- जिस गुणस्थान में योग प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध हो जाने से अयोग अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में पाँच लघु अक्षर अ, इ, उ, ऋ, लृ के मध्यम स्वर से उच्चारण के काल जितनी स्थिति में रहकर वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र इन चार अघाती कर्मों का क्षय करके एक समय की ऋजु (बिना मोडवाली) गति से औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को छोड़कर जीव सिद्ध गति को प्राप्त होता है। यह आत्मा की पूर्ण शुद्ध व संसार मुक्त अवस्था है।

इस प्रकार गुणस्थान जीव के आध्यात्मिक विकास क्रम को दर्शाते हैं। इससे यह पता लगता है कि जीव किस प्रकार अपने दोषों व कर्मों का परिहार कर आध्यात्मिक उन्नति करता चला जाता है।

गुणस्थानों सम्बन्धी विशेष बातें

उक्त चौदह गुणस्थानों में से 1,4,5,6,13 - यह पाँच गुणस्थान शाश्वत है, अर्थात् लोक में सदा रहते हैं।

परभव में जाते समय जीव के 1,2,4 ये तीन गुणस्थान हो सकते हैं।

3,12,13 - इन तीन गुणस्थानों में मरण नहीं होता।

3, 8, 9, 10, 11, 12, 13, 14 - इन गुणस्थानों में आयु का बन्ध नहीं होता।

1, 2, 3, 5, 11 - यह पाँच गुणस्थान तीर्थंकर नहीं फरसते।

4, 5, 6, 7, 8 - इन पाँच गुणस्थानों में ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

12, 13, 14, - यह तीन गुणस्थान अप्रतिपाती हैं यानी इन गुणस्थानों से जीव का पतन नहीं होता।

आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया एवं ग्रंथि भेद

आत्मा का शुद्ध स्वरूप मोह से आवृत है और इसे दूर करने के लिए साधक को तीन मानसिक ग्रन्थियों का भेदन करना होता है। यह आत्मा जिस प्रासाद (घर) में रहती है, उस पर मोह का आधिपत्य है। मोह ने आत्मा को बन्दी बना रखा है। प्रासाद के तीन द्वारों पर उसने अपने प्रहरी लगा रखे हैं। वहाँ जाकर आत्मदेव के दर्शन के लिए व्यक्ति को तीनों द्वारों से प्रहरियों पर विजय प्राप्त करके गुजरना होता है। यह आत्मदेव का दर्शन ही आत्मसाक्षात्कार है और यह तीन द्वारपाल ही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीन ग्रन्थियाँ है और इन पर विजय प्राप्त करने की प्रक्रिया ग्रन्थि भेद कहलाती है, जिसके क्रमशः तीन स्तर हैं - 1. यथाप्रवृत्तिकरण 2. अपूर्वकरण और 3. अनिवृत्तिकरण

यथाप्रवृत्तिकरण :- जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए विविध दुख उठा रहा है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी का पत्थर लुढ़कते-लुढ़कते इधर-उधर टक्कर खाता हुआ गोल और चिकना बन जाता है, उसी प्रकार जीव भी अनन्तकाल से अज्ञानपूर्वक दुख सहते-सहते कोमल एवं स्नेहिल बन जाता है। उस परिणाम शुद्धि के कारण जीव आयुष्य कर्म के सिवाय शेष सात कर्मो की बाँधी हुई दीर्घ स्थिति (मोहनीयकर्म 70 कोडाकोडी सागरोपम) घटकर मात्र एक कोडाकोडी सागरोपम से कुछ कम जितनी कर देता है । इस परिणाम विशेष को यथाप्रवृत्तिकरण कहते है। इस करण वाला जीव राग-द्वेष की मजबूत गाँठ तक पहुँच जाता है, किन्तु उसे खोल नहीं सकता। यह करण पुरूषार्थ और साधना के परिणाम रूप नहीं होता है, वरन् एक संयोग है, एक प्राकृतिक उपलब्धि है। इस प्रक्रिया को ग्रन्थि देश प्राप्ति भी कहते है।

यह आवश्यक नहीं है कि यथाप्रवृत्तिकरण करने वाला प्रत्येक जीव आध्यात्मिक विकास यात्रा में आगे बढ़ जाए, क्योंकि यथाप्रवृत्तिकरण भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीव अनेक बार करते हैं किन्तु अभव्य जीव यहाँ से आगे नहीं बढ सकते है, यही पर रह जाते हैं और पुनः दीर्घस्थिति का बंध कर लेते हैं।

यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया करने के पूर्व आत्मा को निम्नलिखित पाँच लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

1. क्षयोपशम लब्धि, 2. विशुद्धि लब्धि, 3. देशना लब्धि, 4. प्रयोग लब्धि और 5. करण लब्धि।

1. क्षयोपशम लब्धि - अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते-करते किसी आत्मा को किसी समय ऐसा योग मिलता है कि वह ज्ञानावरणीय आदि अष्ट कर्म की अशुभ प्रकृतियो के अनुभाग (रस) को समय-समय में अनंतगुणा घटाता-घटाता क्रम से ऊपर आता है, तब क्षयोपशम लब्धि प्राप्त होती है।

2. विशुद्धि लब्धि - इस क्षयोपशम लब्धि के प्रताप से अशुभ कर्म का विपाकोदय घटता है।

उसमें संक्लेश परिणाम की हानि होती है। शुद्ध परिणामों की वृद्धि होती है। शुद्ध परिणामों की वृद्धि होने से जीव के सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों का बंध करने वाले धर्मानुरागरूप शुभ परिणामो की प्राप्ति होती है, यह विशुद्धि लब्धि है।

3. देशना लब्धि - इस विशुद्धि लब्धि के प्रभाव से जिनवाणी सुनने की अभिलाषा जागृत होना देशना लब्धि है।

4. प्रयोग लब्धि - पूर्वोक्त तीनों लब्धियों से युक्त जीव प्रति समय विशुद्धि करता हुआ आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों की स्थिति को एक कोडाकोडी सागरोपम से कुछ कम करे वह प्रयोग लब्धि है।

5. करण लब्धि - प्रयोग लब्धि के प्रथम समय से लगाकर पूर्वोक्त आयुवर्जित सात कर्मों की स्थिति एक कोडाकोडी सागरोपम से कुछ कम रखी थी, उसे पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी कम करे तब करण लब्धि प्राप्त होती है।

भव्य जीवों में भी किसी समय कोई जीव वीर्योल्लास से आध्यात्मिक विकास-यात्रा में आगे बढ जाता है। उसके यथाप्रवृत्तिकरण को चरम यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।

अपूर्वकरण :- चरम यथाप्रवृत्तिकरण में आए हुए जीव का सद्गुरु का योग मिलने पर धर्म श्रवण के द्वारा उसका मन पाप भीरू एवं विशिष्ट वैराग्य वाला हो जाता है। उसे सांसारिक सुख क्षणिक एवं दुखरूप प्रतीत होने लगते हैं। आत्मा को अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए कभी भी नहीं आया - ऐसा अपूर्व वैराग्ययुक्त अध्यवसाय उत्पन्न होता है, इसे ही शास्त्रों में अपूर्वकरण कहा गया है। अपूर्वकरण का कार्य ग्रन्थिभेद है। यथाप्रवृत्तिकरण तो भव्य की तरह ही अभव्य जीव भी अनंतबार करता है लेकिन अपूर्वकरण भव्य को ही होता है।

अपूर्वकरण की अवस्था में जीव कर्मशत्रुओं पर विजय पाते हुए निम्नलिखित पाँच प्रक्रियाएँ करता है :-

1. स्थितिघात :- पूर्व में यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा जो सात कर्मों की स्थिति अन्त: कोडाकोडी सागरोपम की हुई है, अपूर्वकरण द्वारा कर्मों की स्थिति और भी कम हो जाती है।

2. रसघात :- कर्मविपाक की प्रगाढ़ता को कम करना अर्थात् अपूर्वकरण के द्वारा कर्मों के फल देने की शक्ति या रस का हीन या मंद कर देना।

3. गुणश्रेणी :- अपूर्वकरण के द्वारा जिन कर्म दलिकों का स्थिति घात किया जाता है, उन कर्मों को ऐसे क्रम में रख देना, ताकि उदयकाल के पूर्व ही उनका फल भोग लिया जा सके।

4. गुणसंक्रमण :- पहले बन्धी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बन्ध रही शुभ प्रकृतियों के रूप में परिवर्तित कर देना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5. अपूर्व स्थिति बंध :- पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बन्ध करना अपूर्वस्थितिबंध है।

अनिवृत्तिकरण :- निवृत्ति अर्थात् पीछे हटना (वापस लौट जाना), अनिवृत्ति अर्थात् जहाँ से सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना वापस नहीं लौटना। अपूर्वकरण द्वारा राग-द्वेष की गांठ टूटने पर जीव के परिणाम अधिक शुद्ध होते हैं, उस समय अनिवृत्तिकरण होता है, इस परिणाम को प्राप्त करने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना नहीं लौटता है, इसलिए इसका नाम अनिवृत्तिकरण है । इस करण के समय जीव का वीर्योल्लास पूर्व की अपेक्षा बढ जाता है। तीनों करण में प्रत्येक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अनिवृत्तिकरण में भी उपर्युक्त स्थितिघातादि चालू ही है, लेकिन अभी गुणस्थान पहला ही है।

जब अनिवृत्तिकरण की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति का एक भाग शेष रहता है, तब अन्तरकरण की क्रिया शुरू होती है। इस प्रक्रिया में मिथ्यात्व मोहनीय के कर्मदलिकों को आगे पीछे कर दिया जाता है। कुछ कर्म दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अंत तक उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ और कुछ को अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त काल मिथ्यात्वमोहनीय के कर्मदलिक से रहित हो जाता है। प्रथम स्थिति जब पूर्ण होती है और जीव जैसे ही अंतरकरण में प्रवेश करता है, वैसे ही वहाँ मिथ्यात्व के दलिक नहीं होने से वह औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान में जाता है।

* सूत्रार्थ *

मंदिरमार्गी परम्परा के अनुसार

वंदितु सूत्र गाथा 36 से 50 तक
आयरिय उवज्झाए सूत्र
नमोऽस्तु वर्धमानाय सूत्र
संसार दावानल की स्तुति
अड्ढाईज्जेसु सूत्र
चउक्कसाय सूत्र
अर्हन्तो भगवंत

स्थानकवासी परम्परा के अनुसार

दशवैकालिक सूत्र (अध्याय 1-2 तक)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वंदितु सूत्र गाथा 36 से 50 तक

सम्मद्दिट्ठी जीवो, जइ वि हु पावं समायरइ किंचि।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण न सिद्धंधसं कुणइ ।।36।।

शब्दार्थ

सम्मद्दिट्ठी	- सम्यग्दृष्टि	**अप्पो**	- अल्प, थोड़ा।
जीवो	- जीव, आत्मा।	**सि**	- उसको।
जइवि	- यद्यपि।	**होइ**	- होता है।
हु	- अवश्य, करना पड़ता है।	**बंधो**	- बन्ध कर्मबन्ध।
पावं	- पाप को, पापमय प्रवृत्ति को।	**जेण**	- क्योंकि।
समायरइ	- करता है, आचरता है, आरम्भ करता है।	**न**	- नहीं।
किंचि	- कुछ ।	**निद्धंधसं**	- निर्दयता पूर्वक।
		कुणइ	- करता है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव (गृहस्थ श्रावक) को यद्यपि (प्रतिक्रमण करने के अनन्तर भी) अपना निर्वाह चलाने के लिये कुछ पाप व्यापार अवश्य करना पड़ता है तो भी उसको कर्मबन्ध अल्प होता है क्योंकि वह निर्दयता पूर्वक पाप व्यापार नहीं करता ।।36।।

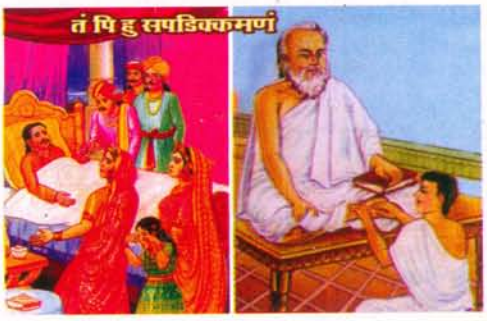

(दृष्टांत कहते हैं)

तं पि हु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तरगुणं च।
खिप्पं उवसामेई, वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो।।37।।

शब्दार्थ

तं	- उसको, उस अल्प पापबंध को।	**च**	- और।
पि	- भी।	**खिप्पं**	- जल्दी।
हु	- अवश्य।	**उवसामेई**	- उपशांत करता है।
सपडिक्कमणं	- प्रतिक्रमण द्वारा।	**वाहि**	- व्याधि।
सप्परिआवं	- पश्चाताप द्वारा।	**व्व**	- जैसे।
सउत्तरं गुणं	- प्रायश्चित रूप उत्तर गुण द्वारा।	**सुसिक्खिओ**	- सुशिक्षित।
		विज्जो	- वैद्य।

भावार्थ :- जिस प्रकार सुशिक्षित अनुभवी (कुशल) वैद्य व्याधि को शीघ्र शांत कर देता है वैसे ही सम्यक्त्वधारी सुश्रावक उस अल्पकर्म बन्ध को भी प्रतिक्रमण, पश्चाताप और प्रायश्चित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रूप उत्तर गुण द्वारा जल्दी नाश कर देता है ।।37।।

(इस विषय में अन्य दृष्टाँत)

जहा विसं कुट्ठ-गयं, मंत-मूल-विसारया।
विज्जा हणंति मंतेहिं, तो तं हवइ निव्विसं ।।38।।

एवं अट्ठविहं कम्मं, राग-दोस-समज्जिअं।
आलोअंतो अ निंदंतो खिप्पं हणइ सुसावओ ।।39।।

शब्दार्थ

जहा	- जैसे।	**निव्विसं**	- विष रहित।
विसं	- विष को।	**एवं**	- वैसे ही।
कुट्ठगयं	- पेट में गये हुए।	**अट्ठविहं**	- आठ प्रकार के।
मंत-मूल-विसारया	- मंत्र और जड़ी-बूटी के जानकार।	**कम्मं**	- कर्म को।
		राग-दोस-समज्जिअं	- राग-द्वेष से उपार्जित।
विज्जा	- वैद्य।	**आलोअंतो**	- आलोचना करता हुआ।
हणंति	- मंत्रों द्वारा।	**अ**	- और।
मंतेहिं	- मंत्रों द्वारा	**निंदंतो**	- निन्दा करता हुआ।
तो	- उससे।	**खिप्पं**	- शीघ्र।
तं	- वह शरीर।	**हणइ**	- नष्ट करता है।
हवइ	- होता है।	**सुसावओ**	- सुश्रावक।

भावार्थ : जिस प्रकार गारुडिक मंत्र और जड़ी-बूटी मूल को जानने वाला अनुभवी कुशल वैद्य रोगी के शरीर में व्याप्त स्थावर और जंगम विष को मंत्रादि द्वारा दूर कर देता है और उस रोगी का शरीर विष रहित हो जाता है। उसी प्रकार राग-द्वेष से बाँधे हुए ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों को सुश्रावक गुरु के पास आलोचना करके तथा अपनी आत्मा की साक्षी से निन्दा करते हुए शीघ्र क्षय कर डालते हैं ।।38-39।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(इसी बात को विशेष रूप से कहते हैं)

कय-पावो वि मणुस्सो, आलोइअ निंदिअ गुरु-सगासे।
होइ अइरेग-लहुओ, ओहरिअ-भरुव्व भारवहो ।।40।।

शब्दार्थ

कय-पावो	- कृतपाप, पाप करने वाला।	**होइ**	- होता है, हो जाता है।
वि	- भी।	**अइरेग-लहुओ**	- अत्यंत हल्का।
मणुस्सो	- मनुष्य।	**ओहरिअ**	- भार के उतर जाने पर।
आलोइअ	- आलोचना करके	**भरुव्व**	- जिस प्रकार से।
निंदिअ	- निंदा करके।	**भारहो**	- भारवाहक, कुली।
गुरुसगासे	- गुरु के पास।		

भावार्थ : जिस प्रकार बोझा उतर जाने पर भारवाहक के सिर पर भार कम हो जाता है, उसी प्रकार गुरु के सामने पाप की आलोचना तथा आत्मा की साक्षी से निन्दा करने पर सुश्रावक के पाप अत्यन्त हल्के हो जाते हैं।।40।।

(विस्मरण हुए अतिचारों की आलोचना)

आलोअणा बहुविहा, न य संभरिआ पडिक्कमण-काले।
मूलगुण-उत्तरगुणे, तं निंदे तं च गरिहामि।।42।।

शब्दार्थ

आलोअणा	- आलोचना।	**पडिक्कमण काले**	- प्रतिक्रमण के समय।
बहुविहा	- अनेक प्रकार की।	**मूलगुण**	- मूलगुण।
न	- नहीं।	**उत्तर गुणे**	- उत्तर गुण के विषय में।
य	- और।	**तं निंदे**	- उसकी मैं निंदा करता हूँ।
संभरिओ	- याद आई हो।	**तं च गरिहामि**	- तथा उसकी मैं गर्हा करता हूँ।

भावार्थ : मूलगुण (पांच अणुव्रत) और उत्तरगुण (तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत) के विषय में लगे हुए अतिचारों की आलोचना बहुत प्रकार की है, तथापि उन आलोचनाओं में से जो कोई आलोचना प्रतिक्रमण करते समय याद न आई हो उसकी मैं आत्म साक्षी से निन्दा करता हूँ और गुरु की साक्षी से गर्हा करता हूँ ।।42।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(भाव जिनकी वन्दना)

तस्स धम्मस्स केवलि-पन्नत्तस्स-
अब्भुट्ठिओमि आराहणाए, विरओमि विराहंणाए।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ।।43।।

शब्दार्थ

तस्स	- उस।	**विराहणाए**	- विराधना से।
धम्मस्स	- धर्म की, श्रावक धर्म की।	**तिविहेण**	- तीन प्रकार से, मन, वचन, काया से।
केवलि	- केवलि भगवान के द्वारा।	**पडिक्कंतो**	- निवृत्त होकर प्रतिक्रमण करके।
पन्नत्तस्स	- कहे हुए।	**वंदामि**	- मैं वंदन करता हूँ।
अब्भुट्ठिओ	- तैयार, तत्पर, सावधान।	**जिणे**	- जिनेश्वरों को।
मि	- मैं।	**चउव्वीसं**	- चौवीस।
आराहणाए	- आराधना के लिये।		
विरओमि	- हटा हूँ, विरत हुआ हूँ।		

भावार्थ : मैं केवलि भगवान् के कहे हुए श्रावक धर्म की आराधना के लिये तैयार हुआ हूँ और उसकी विराधना से विरत हुआ (हटा) हूँ। मैं सब प्रकार के अतिचारों का मन, वचन, काया से प्रतिक्रमण करके पापों से निवृत्त होकर श्री ऋषभदेव से लेकर श्री महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों को वन्दन करता हूँ।।43।।

(तीन लोक के शाश्वत तथा अशाश्वत स्थापना जिनको वन्दन)

जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअ लोए अ।
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ।।44।।

शब्दार्थ

जांवति-चेइआइं	- जितने जिन बिंब।	**सव्वाइं ताइं**	- उन सबको।
उड्ढे	- ऊर्ध्वलोक में।	**वंदे**	- मैं वन्दन करता हूँ।
अ	- और।	**इह**	- यहाँ।
अहे	- अधोलोक में।	**संतो**	- रहता हुआ।
अ	- तथा।	**तत्थ**	- वहाँ।
तिरिअ-लोए	- तिर्यगलोक में।	**संताइं**	- रहे हुओं को।
अ	- एवं।		

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ : ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिरछे लोक में जितने भी चैत्य (तीर्थंकरों की मूर्तियाँ) है उन सबको मैं यहाँ रहता हुआ वहाँ रहे हुए (चैत्यों) को वन्दन करता हूँ।।44।।

(सर्व साधुओं को नमस्कार)

जावंत के वि साहू, भरहेरवय-महाविदेहे अ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड-विरयाणं।।45।।

शब्दार्थ

जावंत - जो।
के - कोई।
वि - भी।
साहू - साधु।
भरहेरवय-महाविदेहे - भरत, ऐरवत तथा महाविदेह क्षेत्र में।
अ - और।
सव्वेसिंह तेसिं - उन सबको।
पणओ - नमन करता हूँ।
तिविहेण - करना, कराना और अनुमोदन करना इन तीन प्रकारों से।
तिदंड विरयाणं - तीन दंड से जो विराम पाये हुए हैं उनको तीनदंड-मनदंड, वचनदंड कायादंड, मन से पाप करना मनदंड, वचन से पाप करना-वचचनदंड शरीर से पाप करना काया दंड।

भावार्थ : भरत, ऐरावत और महाविदेह में विद्यमान जो कोई भी साधु मन, वचन और काया से पाप प्रवृत्ति करते नहीं, कराते नहीं, करते हुए का अनुमोदन नहीं करते, उन सबको मैं वन्दन करता हूँ।।45।।

(धर्मकथा आदि द्वारा जीवन व्यतीत हो)

चिर-संचिअ-पाव-पणासणीइ भव-सय-सहस्स महणीए।
चउवीस-जिण-विणिग्गय-कहाइ बोलंतु मे दिअहा।।46।।

शब्दार्थ

चिर - बहुत काल से, चिरकाल से।
संचिअ - इकट्ठे किये हुए।
पाव - पापों का।
पणासणीइ - नाश करने वाली।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भव	- भवों को, जन्मों को।	**विणिग्गय**	- निकली हुई।
सयसहस्स	- लाखों।	**कहाइ**	- कथा के द्वारा।
महणीए	- मिटाने वाली, मथन करने वाली।	**बोलंतु**	- बीते, व्यतीत हों।
चउवीस	- चौबीस।	**मे**	- मेरे।
जिण	- तीर्थंकरों से, जिनेश्वरों से।।	**दिअहा**	- दिन

भावार्थ : चिरकाल से संचित पापों का नाश करने वाली तथा लाखों जन्म जन्मांतरों का नाश (अंत) करने वाली और जो सभी तीर्थंकरों के पवित्र मुखकमल से निकाली हुई है ऐसी सर्व हितकारक धर्म कथा में ही, अथवा जिनेश्वरों के नाम का कीर्तन, उनके गुणों का गान और उनके चरित्रों का वर्णन आदि वचन की पद्धति द्वारा ही मेरे दिन रात व्यतीत हों।।46।।

(जन्मान्तर में भी समाधि तथा बोधिकी प्राप्ति के लिये प्रार्थना)

मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सूअं च धम्मो अ।
सम्मद्दिट्ठी, देवा दिंतु समाहिं च बोहिं च ।।47।।

शब्दार्थ

मम	- मुझे।	**धम्मो**	- धर्म।
मंगलं	- मंगल रूप हो।	**सम्मदिट्ठी-देवा**	- सम्यग्दृष्टि देव।
अरिहंता	- अरिहन्त।	**दिंतु**	- देवें, दो।
सिद्धा	- सिद्ध।	**समाहिं**	- समाधि।
साहू	- साधु।	**च**	- तथा।
सुअ	- श्रुत	**बोहिं**	- बोधि, सम्यक्त्व।
च	- और।	**च**	- एवं।

भावार्थ : अरिहन्त, सिद्ध, साधु, श्रुत धर्म (अंग उपांग आदि शास्त्र) और धर्म (चारित्र धर्म) ये सब मेरे लिये मंगल रूप हों तथा सम्यग्दृष्टि देव समाधि (चित्त की स्थिरता) एवं बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति में मेरे सहायक हों।।47।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं।
असद्दहणे अ तहा, विवरीअ-परूवणाए अ ।।48।।

शब्दार्थ

पडिसिद्धाणं	- निषेध किये हुए को।	**असद्दहणे**	- अश्रद्धा करने पर।
करणे	- करने पर।	**अ**	- एवं।
किच्चाणं	- करने योग्य का।	**तहा**	- तथा।
अकरणे	- नहीं करने पर।	**विवरीअ**	- विपरीत, आगम से विरुद्ध।
अ	- और।	**परुवणाए**	- प्ररूपणा करने पर।
पडिक्कमणे	- प्रतिक्रमण।	**अ**	- और।

भावार्थ : आगम में निषेध किये हुए स्थूल हिंसादि पाप कार्यों को करने पर और सामायिक, देव पूजा आदि करने योग्य कार्यों को नहीं करने पर जो दोष लगे हों उनको दूर करने के लिये प्रतिक्रमण किया जाता है। तथा जैन तत्त्वों में अश्रद्धा करने पर एवं जैनागम से विरुद्ध प्ररूपणा करने पर जो पाप लगे हों उनको हटाने के लिये प्रतिक्रमण किया जाता है।।48।।

इसका उत्तर देते हैं कि दोनों को प्रतिक्रमण करना योग्य है क्योंकि मात्र अतिचारों के लिये ही प्रतिक्रमण है ऐसा नहीं। परन्तु उपर्युक्त टिप्पणी नं. 2 में जिन चारों कारणों से प्रतिक्रमण करना बतलाया है इसमें मिथ्यादृष्टि, अविरति सम्यग्दृष्टि, देशविरति तथा सर्वविरति सब आ जाते हैं अत: चाहे अविरति हो चाहे विरति हो सबके लिये प्रतिक्रमण करना आवश्यक है।

(सब जीवों से खमत-खामणा करते हैं)

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झ न केणइ ।।49।।

शब्दार्थ

खामेमि	- क्षमा करता हूँ, खमाता हूँ।	**मे**	- मेरी।
सव्वजीवे	- सब जीवों को।	**सव्वभूएसु**	- सब प्रणियों के साथ।
सव्वे	- सब।	**वेरं**	- वैर, शत्रुता।
जीवा	- जीव, प्राणी।	**मज्झ**	- मेरा, मेरी।
खमंतु	- क्षमा करो, खमो।	**न**	- नहीं।
मे	- मुझे, मुझको।	**केणई**	- किसी के साथ।
मित्ती	- मैत्री।		

भावार्थ : यदि किसी ने मेरा कोई अपराध किया हो तो मैं उसको खमाता (उसे क्षमा करता)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हूँ वैसे ही यदि मैंने भी किसी का कुछ अपराध किया हो तो वह मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के साथ मित्रता है किसी के साथ शत्रुता नहीं है ।।49।।

(प्रतिक्रमण की समाप्ति पर अंत्य मंगल)

एवमहं आलोइअ, निंदिअ गरहिअ दुगंछिअं सम्मं।
तिविहेण पडिक्कं तो, वंदामि जिणे चउव्वीसं।।50।।

शब्दार्थ

एवं - इस प्रकार।
अहं - मैं।
गरहिअ - गर्हा करके।
दुगंछिअं - दुगंछा करके, घृणा करके, जुगुप्सा करके।
सम्मं - अच्छी तरह।
तिविहेण - तीन प्रकार से, मन, वचन और काया से।
आलोइअ - आलोचना करके।
निंदिअ - निन्दा करके।
पडिक्कंतो - निवृत्ति होता हुआ, प्रतिक्रमण करता हुआ।
वंदामि - वन्दना करता हूँ।
जिणे - जिनेश्वरों को।
चउव्वीसं - चौवीस।

भावार्थ : इस तरह मैंने अच्छी तरह पापों (अतिचारों) की आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा की है, तथा मन, वचन, काया से प्रतिक्रमण करके अब मैं अन्त में फिर से चौबीस तीर्थंकरों को वन्दना करता हूँ ।।50।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2. आयरिय उवज्झाए सूत्र

आयरिय उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणे अ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि।।1।।

सव्वस्स समण-संघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ।।2।।

सव्वस्स जीव-रासिस्स, भावओ धम्म-निहिअ-निअ-चित्तो
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ।।3।।

शब्दार्थ

आयरिय	- आचार्य पर।	**समण-संघस्स**	- मुनि समुदाय से।
उवज्झाए	- उपाधयाय पर।	**भगवओ**	- पूज्य।
सीसे	- शिष्य पर।	**अंजलिं करिअ**	- अंजली करके, हाथ जोड़कर।
साहम्मिए	- साधर्मिक पर, समान धर्म वाले पर।	**सीसे**	- सिर पर।
कुल	- कुल।	**सव्वं**	- सब।
गणे	- गण।	**खमावइत्ता**	- क्षमा चाहता हूँ।
अ	- और।	**खमामि**	- क्षमा करता हूँ।
जे	- जो।	**सव्वस्स**	- सब।
मे	- मैंने।	**अहयं पि**	- मैं भी।
केइ	-कोई भी, कुछ।	**सव्वस्स**	- उन सब।
कसाया	- कषाय किये हों।	**जीव-रासिस्स**	- जीव राशि से।
सव्वे	- उन सबकी।	**भावओ**	- भाव पूर्वक।
तिविहेण	- तीन प्रकार से मन, वचन और काया से।	**धम्म-निहिय-निअ चित्तो**	- धर्म में निज चित्त को स्थापन किये हुए।
खामेमि	- क्षमा मांगता हूँ।	**सव्वं खमावइत्ता इत्यादि**	- अर्थ पूर्ववत्।
सव्वस्स	- सब।		

भावार्थ : आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक (समान धर्मवाला) कुल और गण, उनके ऊपर मैंने जो कुछ कषाय किये हों उन सबकी मन, वचन और काया से क्षमा मांगता हूँ।।1।।

हाथ जोड़ और मस्तक पर रखकर सब पूज्य मुनिराजों से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ और मैं भी उनके प्रति क्षमा करता हूँ ।।2।।

धर्म में चित्त को स्थिर करके सम्पूर्ण जीवों से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूं और स्वयं भी उनके अपराध को हृदय से क्षमा करता हूँ ।।3।।

www.jainelibrary.org For Personal & Private Use Only

3. नमोऽस्तु वर्धमानाय सूत्र

नमोऽस्तु वर्धमानाय स्पर्धमानाय कर्मणा।
तज्जयावाप्तमोक्षाय परोक्षाय कुतीर्थिनाम् ।।

येषां विकचारविन्दराज्या, ज्यायःक्रमकमलावलिं दधत्या।
सदृशैरिति संगतं प्रशस्यं, कथितं सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः ।।

कषायतापार्दित-जन्तु-निवृतिं करोति यो जैनमुखाम्बुदोदगतः।
स शुक्रमासोद्भव-वृष्टि-संनिभो दधातु तुष्टिं मयि विस्तरो गिराम् ।।

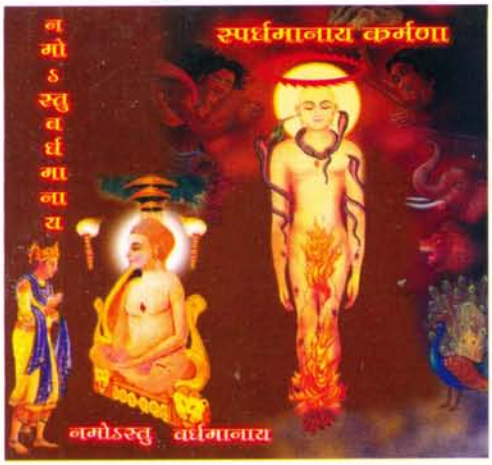

(अर्थः) (1) जो कर्म-गण से स्पर्धा (मुकाबला) करते हैं, (अन्त में) जिन्होंने कर्मगण पर विजय पाने द्वारा मोक्ष प्राप्त किया है, व जो मिथ्यादर्शनियों को परोक्ष है। (प्रत्यक्ष नहीं, बुद्धिगम्य नहीं), उन श्री वर्धमान स्वामी (महावीरदेव) को मेरा नमस्कार हो।

(2) जिनके उत्तम चरणकमल की श्रेणि को धारण करनेवाली विकस्वर कमलपंक्ति ने (मानों) कहा कि समानों के साथ संगति प्रशस्य है वे जिनेन्द्र भगवान निरुपद्रवता (कल्याण-मोक्ष) के लिए हों।

(3) कषायों के ताप से पीड़ित प्राणियों को जिनेश्वर भगवान के मुखरुपी बादल से प्रकटित, ज्येष्ठ मास में हुई वृष्टि के समान जो वाणी का विस्तार (समूह) शान्ति करता है, वह मुझ पर अनुग्रह करें।

(समझ) : यहां चित्र के अनुसार 1ली गाथा में अष्ट प्रातिहार्य सहित महावीर स्वामी को देखते हुए सिर नमाकर 'नमोऽस्तु वर्द्ध' बोलना है। 'स्पर्धमानाय कर्मणा' बोलते समय भगवान को सिर पर कालचक्र के आघात जैसी भयंकर कर्मपीड़ा भी शांति से सहते हुए व कर्मों के साथ विजययुद्ध करने के रुप में देखना है। उसमें विजय पाकर मोक्ष प्राप्त कर सिद्धशिला पर जा बैठे यह 'तज्जयावाप्तमोक्षाय' बोलते समय दृष्टिसन्मुख आवे। 'परोक्षाय .... के उच्चारण पर मिथ्यादर्शनियों का मुँह फिर जाता है वे तेजस्वी प्रभु को देख नहीं पाते ऐसा दिखाई पड़े।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(2) 'येषां विकचार' गाथा बोलते समय दृष्टि सन्मुख अनंत तीर्थंकर भगवान आवे, उनके चरण-कमल में कमलों की पंक्ति है, उनकी अपेक्षा चरणकमल अधिक सुन्दर है फिर भी दोनों ही कमल होने से सदृश है, समान है। इसलिए मानों कमलपुष्पों की पंक्ति बोल रही है कि 'हमारा समान से योग हुआ है यह अच्छा हुआ है।' ऐसे अनंत प्रभु कल्याण के लिए हों।

(3) 'कषायतापा' गाथा में दृष्टि सन्मुख देशना दे रहे भगवान आवे। उनके मुंह-मेघ से वाणी स्वरुप बारिस गिर रहा है जिससे श्रोताओं के कषायस्वरुप ताप शान्त हो जाता है। ऐसी वाणी का विस्तार हमें अनुग्रह करें।

4. मूलसूत्र संसार दावानल की स्तुति

संसार-दावानल-दाह-नीरं,
संमोह-धूली-हरणे-समीरं ।
माया-रसा-दारण-सार-सीरं,
नमामि वीरं गिरि-सार-धीरं ।।1।।

भावावनाम-सुर-दानव-मानवेन-
चूला-विलोल-कमलावलि-मालितानि ।
संपूरिताभिनत-लोक-समीहितानि,
कामं नमामि जिनराज-पदानि तानि ।।2।।

बोधागाधं सुपद-पदवी-नीर-पूराभिरामं,
जीवाहिंसाविरल-लहरी-संगमागाह-देहं ।
चूला-वेलं गुरूगम-मणी-संकुलं दूरपारं,
सारं वीरागम-जलनिधिं सादरं साधु सेवे ।।3।।

आमूलालोलधूली-बहुल-परिमलालीऽऽलीढ़-लोलालिमाला-
झंकाराराव-सारामलदल-कमलागार-भूमी-निवासे !!
छाया-संभार-सारे! वरकमल-करे! तार-हाराभिरामे!
वाणी-संदोह-देहे! भव-विरह-वरं देहि में देवि ! सारं ।।4।।

शब्दार्थ

संसार-दावानल-दाह-नीरं - संसार रूपी दावानल के ताप को शांत करने में जल के समान।
संमोह-धूली-हरणे-समीरं - मोहरूपी धूल को दूर करने में पवन के समान।
माया-रसा-दारण-सार-सीरं - माया रूपी पृथ्वी को खोदने में पैने हल के समान।
गिरि-सार-धीरं-वीरं-नमामि।
मेरू पर्वत जैसे धीर श्री वीरप्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ।
भावावनाम - भावपूर्वक नमस्कार करने वाले।
सुर दानव-मानवेन - देवों, दानवों तथा मनुष्यों के स्वामियों के।
चूला-विलोल-कमलावलि-मालितानि - मुकटों में रहे हुए देदीप्यमान कमलों की पंक्तियों से सुशोभित
संपूरिताभिनत-लोक-समीहितानि - नमस्कार करने वाले लोगों के मनोरथों को जिन्होंने अच्छी तरह पूर्ण किए है।
तानि-जिनराज-पदानि-कामं - नमामि।
उन जिनेश्वर के चरणों में मैं अत्यन्त श्रद्धा से नमस्कतार करता हूँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तानि - उन।
बोधागाधं - ज्ञान से आगाध-गंभीर।
सुपद-पदवी-नीर-पूराभिरामं - सुन्दर पदों की रचना रूप जल प्रवाह से मनोहर।
जीवाहिंसाविरल-लहरी-संगमागाह-देहं - जीवदया रूप अन्तररहित तरंगों के संगम द्वारा अगाध है शरीर जिसका।
चूला-वेलं - चूलिका रूप तटवाले
गुरु-गम-मणी-संकुलं - बड़े-बड़े आलापक रूपी रत्नों से भरपूर।
दूर-पारं - जिसका संपूर्ण पार पाना अति कठीन है।
सारं - उत्तम, सर्व श्रेष्ठ।
वीरागम-जलनिधिं - श्री महावीर प्रभु के आगम रूपी समुद्र की।
सादरं - आदर पूर्वक।
साधु - अच्छी तरह।
सेवे - मैं उपासना करता हूँ, सेवा करता हूँ।
आमूलालोल - मूल तक कुछ डोलने से गिरी हुई।
धूली-बहुल-परिमला - रज-पराग से भरी हुई सुगन्धी में।
आलीढ - मग्न बने हुए।
लोला-अलिमाला - चपल भंवरों की श्रेणियों की।
झंकार-आराव - झंकार शब्द से।
सार - श्रेष्ठ।
मल-दल-कमल - निर्मल स्वच्छ पत्तों वाले कमल।
आगार-भूमि-निवासे - गृह की भूमि में निवास करने वाली।
छाया-संभार-सारे - कांति पुञ्ज से शोभायमान।
वर-कमल-करे - हाथ में उत्तम कमल को धारण करने वाली।
तार-हाराभिरामे - देदीप्यमान हार से सुशोभित।
वाणी-संदोह-देहे - बारह अंग रूप वाणी ही जिसका शरीर है।
भव-विरह-वरं - मोक्ष का वरदान
देवि - हे श्रुत देवी।
देहि मे सारं - मुझे श्रेष्ठ हो।

भावार्थ : (श्री महावीर प्रभु की स्तुति) श्री महावीर स्वामी जो संसार रूपी दावानल के ताप को शांत करने में जल के समान हैं, महामोहनीय कर्म रूपी धूली को उड़ाने में वायु समान है, माया रूपी पृथ्वी को खोदने में तीक्ष्ण हल के समान हैं और मेरु पर्वत के समान धीर (दृढ़ स्थिरता वाले) हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ।।1।।

(सकल जिनेश्वरों की स्तुति) भक्ति पूर्वक नमन करने वाले सुरेन्द्रों, दान और नरेन्द्रों के मुकटों में विद्यमान देदीप्यमान-विकस्वर कमलों की मालाओं द्वारा पूजित तथा शोभायमान एवं भक्त लोगों के मनोवांछित अच्छी तरह पूर्ण करने वाले ऐसे सुन्दर और प्रभावशाली जिनेश्वर देवों के चरणों को

मैं अत्यन्त श्रद्धापूर्वक नमन करता हूँ ।।2।।

(आगम स्तुति) इस श्लोक के द्वारा समुद्र के साथ समानता दिखाकर आगम की स्तुति की गई है।

श्री महावीर स्वामी के श्रेष्ठ आगम रूपी समुद्र का मैं आदरपूर्वक अच्छी तरह से सेवन करता हूँ। जैसे समुद्र में अगाध जल होता है वैसे इस आगम रूपी समुद्र में अगाध ज्ञान रहा हुआ है, तथा

यह आगम समुद्र श्रेष्ठ शब्दों के रचना रूपी जल के समूह द्वारा मनोहर दीख पड़ता है, लगातार बड़ी-बड़ी तरंगों के उठते रहने से जैसे समुद्र में प्रवेश करना कठिन है वैसे ही यह आगम समुद्र भी जीवदया के सूक्ष्म विचारों से परिपूर्ण होने के कारण इस में भी प्रवेश करना अति कठिन है, जैसे समुद्र के बड़े-बड़े तट होते हैं वैसे ही आगम में भी बड़ी-बड़ी चूलिकाएँ हैं, जैसे समुद्र मोती, मूँगों, आदि से भरपूर है उस प्रकार आगम में भी बड़े-बड़े उत्तम-गम-आलावे (सदृश पाठ) हैं, तथा जिस प्रकार समुद्र का पार किनारा बहुत ही दूरवर्ती होता है वैसे ही आगम का भी पार पाना अर्थात् पूर्ण रीति से मर्म समझना (अत्यन्त मुश्किल) है ।।3।।

हे श्रुतदेवी ! मुझे सर्वोत्तम मोक्ष का वरदान दो अर्थात् मैं संसार से पार उतरूं ऐसा वरदान दो । इस श्लोक में श्रुत देवी के पाँच विशेषण दिये हैं, वे इस प्रकार है-

उस श्रुत देवी का निवास कमल पर रहे हुए भवन में है, वह कमल जल की तरंगों से मूल पर्यन्त चपल-हिलोरे खा रहा है, और उसके मकरन्द की अत्यंत सुगन्ध पर मस्त हो रहे चंचल भंवरों के समूह की गुँजारव शब्दों से वह कमल शोभायमान हो रहा है तथा उस कमल के पत्ते अत्यंत स्वच्छ है । ऐसे कमल पर उस श्रुतदेवी का भवन है । एवं वह देवी कांति के समूह से सुशोभित है, उसके हाथ में श्रेष्ठ कमल है, देदीप्यमान हार से वह मनोहर दिखलाई दे रही है और उसका शरीर द्वादशांगी के समूह रूप है अर्थात् द्वादशांगी की अधिष्टात्री है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5. अड्ढाइज्जेसु-सूत्र

अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु पण्णरससु कम्मभूमीसु।
जावंत के वि साहू, रयहरण-गुच्छ-पडिग्गह-धारा।।1।।

पंचमहव्वय-धारा, अट्ठारस सहस्स-सीलांग-धारा।
अक्खुयायार-चरित्ता, ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि।।2।।

शब्दार्थ

अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु - जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, और अर्धपुष्कर-द्वीप में, ढाई द्वीप समुद्र में।
पण्णरससु - पन्द्रह ।
कम्मभूमिसु - कर्मभूमियाँ में।
जावंत के वि साहू - जो कोई भी साधु।
रयहरण-गुच्छ-पडिग्गह-धारा- राजेहरण, गुच्छक और (काष्ठ) पात्र को धारण करने वाले। **रयहरण**-रज को दूर करने वाला उपकरण विशेष। **गुच्छ**-पातरे की झोली पर ढँकने का एक प्रकार का ऊन का वस्त्र। **पडिग्गह**-पातरा, पात्र। **धारा**-धारण करनेवाले।
पंचमहव्वय-धारा - पाँच महाव्रतों का धारण करवनेवाले।
अट्ठारस-सहस्स-सीलांग धारा - अठारह हजार शील के अङ्गों को धारण करनेवाले।
अक्खुयायार-चरित्ता - अक्षत, आचार और चारित्र आदि (भाव-लिङ्ग) को धारण करनेवाले।
ते - उन।
सव्वे - सबको ।
सिरसा - सिर से, काया से ।
मणसा - मन से
मत्थएण वंदामि - मस्तक से वन्दन करता हूँ।

भावार्थ : ढाई द्वीप में आयी हुई पन्द्रह कर्मभूमियों में जो साधु रजोहरण, गुच्छ और (काष्ठ) पात्र (आदि द्रव्यलिङ्ग) तथा पाँच महाव्रत, अठारह हजार शीलाङ्ग, अक्षत आचार और चारित्र आदि (भाव-लिङ्ग) के धारण करनेवाले हों, उन सबको काया तथा मन से वन्दन करता हूँ।।

For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शीलाङ्ग-रथ
कुल 18000

न करे 6000	न करावे 6000	न अनु.करे 6000							
मनोयोग 2000	वचनयोग 2000	काययोग 2000							
आहार संज्ञा 500	भय संज्ञा 500	मैथुन संज्ञा 500	परिग्रह संज्ञा 500						
श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह 100	चक्षु निग्रह 100	घ्राणे निग्रह 100	रसने निग्रह 100	स्पर्श निग्रह 100					
पृथ्वी 10	अप् 10	तेउ. 10	वाउ. 10	वन. 10	दो.इ. 10	तीन इ. 10	चतु. इ. 10	पञ्च इ. 10	अजीव 10
क्षमा 1	मार्दव 2	आर्जव 3	मुक्ति 4	तप 5	संयम 6	सत्य 7	शौच 8	अकिञ्चनत्व 9	ब्रह्मचर्य 10

शीलाङ्ग - रथ

यतिधर्म दस प्रकार का है :- (1) क्षमा, (2) मार्दव, (3) आर्जव, (4) मुक्ति, (5) तप, (6) संयम, (7) सत्य, (8) शौच, (9) अकिञ्चनन्य और (10) ब्रह्मचर्य इसलिये सबसे नीचे के कोष्ठक में यह बतलाया है। यति को (1) पृथ्वीकाय-समारम्भ, (2) अप्काय-समारम्भ, (3) तेजस्काय-समारम्भ, (4) वायुकाय-समारम्भ, (5) वनस्पतिकाय-समारम्भ, (6) द्वीन्द्रिय-समारम्भ, (7) त्रीन्द्रिय-समारम्भ, (8) चतुरिन्द्रिय-समारम्भ, (9) पञ्चेन्द्रिय-समारम्भ और (10) अजीव-समारम्भ की जयणा करने की है, अतः दूसरे कोष्ठक में यह बतलया है। यह यतिधर्मयुक्त जयणा पाँच इन्द्रिय जयपूर्वक ली जाती है, इसलिये तीसरे कोष्ठक में पाँच इन्द्रियों के नाम दिखाये हैं। अर्थात् शील के कुल भेद 500 हुए।

इस भेद को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह - इन चार संज्ञाओं से, मनोयोग, वचनयोग और काययोग - इन तीन योगों से करना नहीं, कराना नहीं और करते हुए का अनुमोदन करना नहीं, इन तीन कारण से गुणन करने पर अठारह हजार शीलाङ्ग होते हैं।

10×10×5×4×3×3 = 1800

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

6. चउक्कसाय सूत्र

चउक्कसाय-पडिमल्लुल्लूरणु, दुज्जय-मयण-बाण-मुसुमूरणु।
सरस-पियुंग-वण्णु गय-गामिउ, जयउ पासु भुवणत्तय-सामिउ ।।1।।
जसु-तणु-कंति-कडप्प सिणिद्धउ, सोहइ फणि-मणि-किरणालिद्धउ ।
नं नव-जलहर तडिल्लय-लंछिउ, सो जिणु पासु पयच्छउ वंछिउ ।।2।।

शब्दार्थ

चउक्कसाय-पडिमल्लुल्लूरणु - चार कषाय रूपी शत्रु योद्धाओं का नाश करनेवाले । **चउक्कसाय** - क्रोध, मान, माया और लोभ - ये चार कषाय । **पडिमल्ल** - सामने लड़नेवाला योद्धा। **उल्लुल्लूरणु** - नाश करनेवाला।

दुज्जय-मयण-बाण-मुसुमुरणु - कठिनाई से जीते जाय ऐसे कामदेव के बाणों को तोड़ देने वाले। **दुज्जय** - कठिनाई से जीता जाय ऐसा। **मयण-बाण** - कामदेव के बाण। **मुसुमूरणु** - तोड़ देनेवाला।

सरस-पियंगु-वण्णु - नवीन (ताजा) प्रियङ्गु लता जैसे वर्णवाले । **सरस** - ताजा, नवीन । पियंगु - एक प्रकार की वनस्पति, प्रियङ्गु । **वण्णु** - वर्ण, रंग ।

गय-गामिउ - हाथी के समान गति वाले।

जयउ - जय को प्राप्त हों।

पासु - पार्श्वनाथ।

भुवणत्तय-सामिउ - तीनों भुवन के स्वामी।

जसु - जिनके।

तणु-कंति-कडप्प - शरीर का तेजोमण्डल।

सिणिद्धउ - कोमल, मनोहर।

सोहइ - शोभित होता है।

फणि-मणि-किरणालिद्धउ - नागमणि के किरणों से युक्त । **फणि** - नाग । **मणि** - मस्तक पर स्थित मणि ।

नं - वस्तुतः।

नव-जलहर - नवीन मेघ। **नव** - नवीन। **जलहर** - मेघ, बादल ।

तडिल्लय-लंछिउ - बिजली से युक्त।

तडिल्लय - बिजली । **लंछिउ** - युक्त, सहित।

सो- वह, वे।

जिणु - जिन ।

पासु - श्री पार्श्वनाथ।

पयच्छड - प्रदान करें।

वंछिउ - वाञ्छित्, मनोवाञ्छित।

भावार्थ : चार कषायरूपी शत्रु-योद्धाओं का नाश करनेवाले, कठिनाई से जीत जाय ऐसे कामदेव के बाणों को तोड़ देनेवाले, नवीन प्रियङ्गुलता के समान वर्ण वाले, हाथी के समान गति वाले, तीनों भुवन के स्वामी श्री पार्श्वनाथ जय को प्राप्त हों ।।1।।

जिनके शरीर तेजोमण्डल मनोहर हैं, जो नागमणि की किरणों से युक्त और जो वस्तुतः बिजली से युक्त नवीन मेघ हों, ऐसे शोभित है वे श्री पार्श्वजिन मनोवाञ्छित फल प्रदान करें।।2।।

7. अर्हन्तो भगवन्त

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धि-स्थिता,
आचार्यजिन-शासनोन्नति-कराः पूज्या उपाध्यायकाः।

श्री सिद्धान्त-सुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः ।
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ।।1।।

शब्दार्थ

इन्द्रमहिताः - इन्द्रों से पूजित।
अर्हन्तो भगवन्त - अरिहंत भगवान।
च - और ।
सिद्धिस्थिता सिद्धाः - मुक्ति में स्थित सिद्ध भगवान।
जिन-शासनोन्नतिकराः - जिनशासन की उन्नति करने वाले।
आचार्याः - आचार्य महाराज।
श्री सिद्धान्तसुपाठकाः - सिद्धान्त को पढ़ाने वाले।
पूज्या उपाध्यायकाः - पूजनीय उपाध्याय महाराज।
रत्न त्रयाराधकाः - तीन रत्नों की आराधना करने वाले।
मुनिवराः - श्रेष्ठ मुनि महाराज।
एते पंच - ये पाँच।
परमेष्ठिनः - परमेष्ठी।
प्रतिदिनं - प्रतिदिन।
वो - आपका।
मंगलं कुर्वन्तु - मंगल करें।

भावार्थ : इन्द्रों से पूजित श्री तीर्थंकर देव, मुक्ति में स्थित श्री सिद्धभगवान्, जिनशासन की उन्नति करनेवाले, श्री आचार्य महाराज, शास्त्र-सिद्धान्त को पढ़ानेवाले पूज्य उपाध्याय महाराज तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय के आराधक श्रेष्ठ मुनि महाराज ये पाँच परमेष्ठी प्रतिदिन आप का कल्याण करें ।।1।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दशवैकालिक सूत्र

प्रथम अध्याय

दुमपुप्फिया (दुम पुषिपका)

मूल - धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ।।1।।

अन्वयार्थ - धम्मो - दुर्गति में गिरते हुए जीव को बचाने वाला श्रुत-चारित्र रूप धर्म। **मंगलमुक्किट्ठं** - उत्कृष्ट मंगल है । **अहिंसा संजमो तवो** - वह धर्म अहिंसा, संयम और तप रूप है। **देवा वि** - देवता भी । **तं** - उसको । **नमंसंति** - नमस्कार करते हैं। **जस्स** - जिसका । **धम्मे** - धर्म में । **सया** - सदा । **मणो** - मन लगा रहता है ।

भावार्थ - अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म संसार के सब मंगलों में श्रेष्ठ मंगल है। ऐसे धर्म में जिसका मन सदा रमण करता रहता है, उसको चार जाति के भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवता भी नमस्कार करते हैं।

मूल - जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ।।2।।

अन्वयार्थ - जहा - जैसे । **दुमस्स** - वृक्ष के । **पुप्फेसु** - फूलों पर । **भमरो** - भँवरा । रसं - रस को। **आवियइ** - मर्यादा से पीता है। **य पुप्फं** - और फूल को । **न किलामेइ** - पीड़ा उत्पन्न नहीं करता है। **य** - और । **सो** - वह। **अप्पयं** - अपने आपको । **पीणेई** - तृप्त कर लेता है।

भावार्थ - जैसे भँवरा फूलों पर प्राकृतिक मर्यादा से रसपान करके अपना पोषण कर लेता है और फूलों को पीड़ा उत्पन्न नहीं होने देता है। इसी प्रकार साधु अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करता है, जिससे कि उसका भी अच्छी तरह निर्वाह हो जाय और दूसरों के लिए भी अपने आहार में से थोड़ा सा दे देना कष्टदायक न हो।

मूल - एमे ए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाण - भत्तेसणा रया ।।3।।

अन्वयार्थ - एमे ए - ऐसे ये । **समणा** - श्रमण तपस्वी । **मुत्ता जे** - बहिरंग और अंतरंग परिग्रह से जो मुक्त हैं। **लोए** - लोक में। **साहुणो** - साधु । **संति** - हैं। **पुप्फेसु** - फूलों पर। **विहंगमा व** - भँवरे के समान वे। **दाण भत्तेसणा** - दाता द्वारा दिये गये निर्दोष प्रासुक आहार पानी की एषणा में। **रया** - रत रहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only

भावार्थ - जो लोक में आरम्भादि से मुक्त साधु होते हैं, वे फूलों पर भँवरे के समान, दाता द्वारा दिये गये निर्दोष आहार की गवेषणा में रत रहते हैं।

मूल - वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा ।।4।।

अन्वयार्थ - वयं च - और हम। **वित्तिं** - ऐसी वृत्ति। **लब्भामो** - प्राप्त करेंगे, जिसमें छोटा-बड़ा। **न य कोई उवहम्मइ** - कोई भी जीव कष्ट प्राप्त नहीं करे। **पुप्फेसु** - फूलों पर। **भमरा** - भँवरे। **जहा** - जैसे । **रीयंते** - जाते हैं। **अहागडेसु** - वैसे ही हम गृहस्थों के द्वारा, उनके निज के लिये बनाये गये भोजन में से थोड़ा-थोड़ा लेकर विचरण करते रहेंगे।

भावार्थ - शिष्य गुरुदेव के चरणों में यह प्रतिज्ञा करते हैं कि जिस प्रकार भँवरा फूलों से रस लेने में किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता है। हम भी ऐसी रीति अपनायेंगे, जिससे कि किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो। फूलों पर भँवरों की तरह गृहस्थ के यहाँ उनके उपभोग के लिये बनाये आहार में से ही थोड़ो-थोड़ा हम ग्रहण करेंगे।

मूल - महुगार समाबुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ।। त्ति बेमि ।।5।।

अन्वयार्थ - महुगार समा - भँवरे के समान । **जे बुद्धा** - जो ज्ञानवान्। **दंता** - जितेन्द्रिय तथा । **अणिस्सिया** - कुल जाति के प्रतिबंध से रहित वे। **भवंति** - होते हैं। **नाणापिंडरया** - अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा प्रासुक आहार लेते हैं। **तेण** - इसलिये वे । **साहुणो** - साधु । **वुच्चंति** - कहलाते हैं। **त्ति बेमि** - ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ - जैन श्रमण भ्रमरवृत्ति वाले होते हैं। तत्त्वों के ज्ञाता व भ्रमर के समान किसी एक कुल, जाति या व्यक्ति के आश्रित नहीं होकर अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा प्रकार का निर्दोष व प्रासुक आहार-पानी लेकर सन्तुष्ट और जितेन्द्रिय बनकर रहते हैं, इसलिये वे साधु कहलाते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

।। प्रथम अध्ययन समाप्त ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्ययन

सामण्णपुव्वथं (श्रामण्यपूर्वक)

मूल - कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसंगओ ।।1।।

अन्वयार्थ - सामण्णं- श्रमण धर्म का पालन। **कहं नु -** वह कैसे। **कुज्जा -** करेगा । **जो -** जो । **कामे -** इच्छाओं (कामनाओं) का । **न निवारए -** निवारण नहीं करता है। **पए पए -** पग-पग पर । **विसीयंतो -** खेद पाता हुआ वह। **संकप्पस्स -** संकल्प विकल्प के । **वसंगओ -** आधीन होता है।

भावार्थ - जो साधक कामनाओं का निवारण नहीं कर सकता, वह श्रमण धर्म का पालन कैसे करेगा? क्योंकि कामनाओं के आधीन पुरुष संकल्प विकल्प के वशीभूत होकर, पग-पग पर खेद प्राप्त करता है। अर्थात् कामनाओं पर विजय प्राप्त किये बिना श्रमण धर्म का यथावत् पालन नहीं किया जा सकता है।

मूल - वत्थ - गंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति,न से चाइ त्ति वुच्चई ।।2।।

अन्वयार्थ - वत्थ गन्धमलंकारं - वस्त्र, कपूर आदि गंध एवं अलंकार । **इत्थीओ -** स्त्रियाँ। **य -** और । **सयणाणि -** पलंग आदि शय्याओं को । **अच्छंदा -** असमर्थता, परवशता से। **जे -** जो । **न भुंजंति -** नहीं भोगते। **से -** वे। **चाइ त्ति -** त्यागी हैं ऐसा । **न वुच्चइ -** नहीं कहलाते।

भावार्थ - वस्त्र, गन्ध, माला, आभूषण और संसार की विविध रमणीय भोग सामग्री का पराधीनता या रोगादि के भय से चाहते हुए भी जो भोग नहीं कर पाते। वस्तुतः वे त्यागी नहीं कहलाते हैं।

मूल - जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठी कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ।।3।।

अन्वयार्थ - जे - जो। **कंते -** कान्त, मनोहर। **य -** और । **पिए -** प्रिय । **भोए -** भोगों को। **लद्धे वि -** मिलने पर भी । **पिट्ठी कुव्वइ -** पीठ करता है, तथा । **साहीणे -** स्वाधीन यानी प्राप्त । **चयइ भोए -** भोगों को छोड़ता है। **से हु -** वह ही। **चाइ त्ति -** त्यागी । **वुच्चइ -** कहलाता है।

भावार्थ - सुन्दर और रुचिकर भोग-सामग्री के मिलने पर भी उससे पीठ करता है, यानी उसे ठुकरा देता है और प्राप्त भोगों को स्वेच्छा से छोड़ देता है, वस्तुतः वह ही त्यागी कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूल - समाइ पेहाइ परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ।।4।।

अन्वयार्थ - समाइ - समाधि की । **पेहाइ** - दृष्टि से । **परिव्वयंतो** - विचरते हुए । **सिया** - कदाचित् साधु का । **मणो** - मन । **बहिद्धा** - संयम से बाहर । **निस्सरई** - निकल जाय । (प्रश्न) तब वह क्या करे? (उत्तर) **सा** - वह । **महं** - मेरी । **न** - नहीं और । **अहं पि** - मैं भी । **तीसे** - उसका । **नो वि** - नहीं हूँ । **इच्चेव** - इस प्रकार सोचकर । **ताओ रागं** - उस स्त्री पर रहे हुए रागभाव को । **विणएज्ज** - हटा ले।

भावार्थ - राग-द्वेष रहित होकर शान्त व सम दृष्टि से साधना मार्ग पर चलते हुए भी कदाचित् कभी किसी साधक का मन संयम से बाहर निकल जाय, तो आत्मार्थी ऐसा सोचे कि वह मेरी नहीं और मैं उसका नहीं।

मूल - आयावयाहि चय सोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ।।5।।

अन्वयार्थ - आयावयाहि - धूप एवं सर्दी की आतापना ले। **चय सोगमल्लं** - सुकुमारपन का परित्याग कर । **कामे** - कामवासना या कामनाओं को । **कमाहि** - दूर कर तब । **दुक्खं** - तेरा दुःख। **कमियं खु** - दूर हुआ, समझ । **दोसं** - द्वेष का । **छिंदाहि** - छेदन कर । **रागं** - राग को। **विणएज्ज** - दूर हटा । **एवं** - ऐसा करने से । **संपराए** - संसार में । **सुही** - सुखी। **होहिसि** - हो जाएगा।

भावार्थ - शीत और गर्मी की आतापना लेते हुए सुकुमारता का परित्याग करो एवं कामनाओं का निवारण करे तो दुःख दूर हुआ समझो। द्वेष का छेदन करो और राग को अलग करो, ऐसा करने से संसार में सुखी हो जाओगे।

मूल - पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ।।6।।

अन्वयार्थ - अगंधणे कुले - अगन्धन कुल में। **जाया** - उत्पन्न हुए सर्प । **जलियं** - जलती हुई। **जोइं** - आग जो । **धूमकेउं** - धूम के ध्वजा वाली और । **दुरासयं** - दुःख से सहन करने योग्य विकराल आग में। **पक्खंदे** - कूद जाते हैं किन्तु। **वंतयं** - वमन किये विष को । **भोत्तुं** - भोगने, वापस लेने की। **नेच्छंति** - इच्छा नहीं करते।

भावार्थ - अगन्धन कुल में जन्मे हुए सर्प विकराल जलती हुई अग्नि में कूदकर मर जाना मंजूर करते हैं, किन्तु वमन किये हुए विष को फिर से चूसने-खींचने की इच्छा नहीं करते, स्वीकार नहीं करते। साधक को भी अपनी प्रतिज्ञा पर इसी प्रकार की दृढ़ता से चलना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूल - धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीविय-कारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ।।7।।

अन्वयार्थ - धिरत्थु - धिक्कार है । **अजसोकामी** - हे अपयश के कामी। (असंयम की कामना वाले)। **ते** - तुमको । **जो** - जो । **तं** - तुम। **जीविय कारणा** - भोगी जीवन जीने के लिये । **वंतं** - छोड़े हुए भोगों को । **आवेउं** - फिर भोगना । **इच्छसि** - चाहते हो, इसकी अपेक्षा तो । **ते** - तुम्हारा । **मरणं** - मर जाना। **सेयं** - अच्छा। **भवे** - है।

भावार्थ - हे अपयश के कामी ! तुझे धिक्कार है, जो तू त्यागे हुए पदार्थ को फिर भोगना चाहता है। इससे तो तुम्हारा संयम अवस्था में रहकर मरना श्रेयस्कर है, क्योंकि प्रण (प्रतिज्ञा) का महत्त्व प्राणों से भी अधिक है।

मूल - अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ।।8।।

अन्वयार्थ - अहं च - मैं तो। **भोगरायस्स** - भोजराज उग्रसेन की पुत्री हूँ। **तं च** - और तुम। **अन्धगवण्हिणो** - अन्धकवृष्णि समुद्रविजय के पुत्र। **असि** - हो। **कुले** - अपने कुल में। **गंधणा** - गन्धनजाति के सर्प के समान। **मा होमो** - मत बनो। **संजमं** - संयम का । **निहुओ** - स्थिर-एकाग्र मन से। **चर** - आचरण करो, पालन करो।

भावार्थ - कुलाभिमान को जागृत करते हुए सती राजीमती कहती है - '' रथनेमिजी! मैं भोजराज उग्रसेन की पुत्री हूँ और तुम महाराज समुद्र विजय के पुत्र हो। ऐसे उच्च कुल में जन्म पाकर, हम गन्धनकुल के नाग की तरह नहीं बनें, किन्तु मैं और तुम एकाग्र मन से संयम धर्म का आचरण कर, अपने कुल का गौरव बढ़ाएँ।

मूल - जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठि-अप्पा भविस्ससि।।9।।

अन्वयार्थ - जइ तं - यदि तू। **भावं**-चंचल भाव। **काहिसि** - करेगा तो। **जा जा** - जिन जिन। **नारिओ** - नारियों को। **दिच्छसि** - देखेगा, उससे । **वायाविद्धो** -तेज पवन से प्रेरित। **हडो व्व** - हड वृक्ष (पानी के वृक्ष विशेष) के समान। **अट्ठिअप्पा** - अस्थिर आत्मा। **भविरस्सि** - हो जाएगा।

भावार्थ - हे मुनि! यदि तू जिन-जिन नारियों को देखेगा और उन पर विकारी भाव करेगा तो तू तेज हवा से कम्पित हड वृक्ष की तरह अस्थिर आत्मा वाला हो जाएगा।

मूल - तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ।।10।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्वयार्थ - तीसे - उस । **संजयाए** - संयमशीला राजीमती के। **सो सुभासियं** - वे पतितोत्थान वाले सुभाषित। **वयणं** - वचन । **सोच्चा** - सुनकर । **अंकुसेण** - अंकुश से । **जहा नागो** - जैसे हाथी वश में हो जाता है, वैसे ही स्थनेमि भी। **धम्मे** - चारित्र धर्म में। **संपडिवाइओ** - पुनः स्थिर हो गये।

भावार्थ - उस संयमशीला राजीमती महासती के इन हृदयस्पर्शी, सुभाषित वचनों को सुनकर रथनेमि का मन अंकुश के द्वारा वश हुए मत्त हाथी के समान, संयम धर्म में पुनः स्थिर हो गये।

मूल - एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो ।।11।। - त्ति बेमि ।।

अन्वयार्थ - संबुद्धा पंडिया - सम्यक् बोध वाले पंडित। **पवियक्खणा** - विचक्षण साधक । **एवं** - इसी प्रकार । **करेंति** - अपनी आत्मा को स्थिर करते हैं। **भोगेसु** - काम-भोगों से । **विणियट्टंति** - निवृत्त होते हैं। **जहा** - जैसे । **से** - वह । **पुरिसुत्तमो** - पुरुषोत्तम रथनेमि । **त्ति बेमि** - ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ - सम्यक् बोध वाले विचक्षण पुरूष वे हैं जो मोहभाव के उदय से चंचल बनी चित्तवृत्तियों को ज्ञानांकुश से स्थिर कर लेते हैं। जैसे पुरुषोत्तम रथनेमि ने राजीमती के सुभाषित वचन सुनकर भोगों से पुनः अपने मन को मोड़ लिया था ऐसा मैं कहता हूँ।

।। द्वितीय अध्ययन समाप्त ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* जैन पर्व *

मौन एकादशी
होली
अक्षय तृतीया
रक्षा बन्धन

मौन एकादशी

पर्व का अर्थ है, कुछ विशेष दिन। पर्व पवित्रता और श्रेष्ठता का भी सूचक है। जैन ज्योतिष के अनुसार प्रत्येक पक्ष की निम्न तिथियाँ पर्व-तिथि कहलाती हैं। द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी तथा चतुर्दशी एवं पूर्णिमा। प्रज्ञापना सूत्र में बताया है - द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि का प्रभाव भी कर्मो के उदय व क्षयोपशम भाव में उनके तीव्र-मंद प्रभाव में निमित्त बनता है। किसी समय में प्रारम्भ की गई ज्ञानाराधना तथा अमुक नक्षत्र आदि में ध्यान-साधना विशेष शीघ्र फलदायी होती है। वैसे ही अमुक तिथि को किया गया अमुक कार्य शीघ्र फलदायी होता है। तिथियों का सम्बन्ध ज्योतिष शास्त्र से है। मुख्य बात यह है कि इन तिथियों में विशेष धर्मध्यान, तप, त्याग करके शुभ भावना पूर्वक समय को सार्थक बना दें जिससे जीव आयुष्य शुभ गति का बंध कर सके। दो दिन के अन्तर से एक दिन पर्व तिथियों में उपवास, आयंबिल एकासना आदि करके धार्मिक संस्कारों को जीवन्त रखा जाता है। इन्हीं पर्व-तिथियों में मौन एकादशी एक विशेष पर्व है।

मिगसर सुदि 11 का दिन मौन एकादशी के नाम से प्रसिद्ध है। जिस तरह सर्व पर्वो में पर्युषण पर्व विशिष्ट कहलाता है, उसी तरह समस्त दिनों के अन्दर मौन एकादशी का दिन मुख्य है। मिगसर सुदि ग्यारस के दिन 18वें तीर्थंकर अरनाथ भगवान ने चक्रवर्ती सम्राट का अपार वैभव त्यागकर दीक्षा ग्रहण कर थी। 19वें तीर्थंकर मल्लीनाथ भगवान का जन्म, दीक्षा तथा केवलज्ञान, तीनों कल्याणक इसी एकादशी के दिन हुए तथा 21वें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ को केवलज्ञान भी इसी एकादशी के दिन प्राप्त हुआ। इस प्रकार इस अवसर्पिणी काल में तीन तीर्थंकरों के कुल पांच कल्याणक इसी दिन सम्पन्न हुए।

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में जिस दिन ये पांच कल्याणक सम्पन्न होते हैं, उसी दिन ऐरावत क्षेत्र में भी इस क्रम से कल्याणक होते हैं। धातकीखण्ड द्वीप में 2 भरत क्षेत्र है, 2 ऐरावत क्षेत्र हैं।

पुष्करार्ध द्वीप में भी 2 भरत क्षेत्र तथा 2 ऐरावत क्षेत्र हैं।

इस प्रकार कुल 5 भरत क्षेत्र में 5×5 = 25 कल्याणक

5 ऐरावत क्षेत्र में 5×5 = 25 कल्याणक

इस अवसर्पिणी काल में कुल 50 कल्याणक इस दिन मनाये जाते है। इसको अतीतकाल की चौबीसी और आनेवाली चौबीसी से जोडने पर 50×3 = 150 कल्याणक से यह पर्व विभूषित है। कहा जाता है - **''नारका अपि मोदन्ते यस्य कल्याण पर्वसु''।**

तीर्थंकर भगवान के कल्याणक के पवित्र क्षणों में समूचे संसार में सुख की लहर दौड जाती है, सदा दुख और पीड़ा में रहनेवाले नारकी के जीव भी उस पवित्र क्षण में अत्यन्त आनंद और सुख की अनुभूति करते है। क्योंकि भगवान अनन्त-अनन्त पुण्यों के पूँज होते है। उनकी पुण्यवाणी अतिशय और संसार के लिए परम हितैषिता एवं अद्वितीय होती है। कल्याणक का अर्थ ही है कल्याणकारी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस कारण उनके कल्याणक का महत्व है।

इस दिन वाणी का संयम (मौन) रखकर चौविहार उपवास पूर्वक अष्ट प्रहरी पौषध व्रत में जाप के साथ डेढ़ सौ तीर्थंकर के कल्याणक की आराधना की जाती है। तप के साथ जप और जप के साथ ही मौन व्रत का इस दिन का विशेष महत्व है।

मौन मन का अंतरंग तप है, वचन का भी तप है। मौनयुक्त उपवास होने से मन-वचन-काया तीनों योगों से तप की आराधना हो जाती है। यों देखे तो तन का तप है इन्द्रिय-संयम और उपवास वाणी का तप है मौन और जप तथा मन का तप है - ध्यान, एकाग्रता और तीनों का मिलन है मौन एकादशी व्रत ।

एक समय श्री नेमिनाथ भगवान को श्री कृष्ण वासुदेव द्वारिका नगरी के बाहर वंदन करने के लिये आये, विधि सहित अभिवंदन करके विनम्रभाव से प्रभु से पूछने लगे - 'हे स्वामिन मैं रात-दिन राज-कार्यों में व्यस्त रहता हूँ इसलिए धर्माराधना करने का विशेष समय नहीं मिल पाता। इस कारण मुझे ऐसा एक दिन बताइये जिस दिन समग्र राज-चिन्ताओं से मुक्त होकर निर्विकल्प भावपूर्वक धर्माराधना करने से मैं विशेष उत्तम फल की प्राप्ति कर सकूँ।

भगवान नेमिनाथ ने कहा -'वासुदेव! मिगसर सुदि एकादशी का दिन श्रेष्ठ और उत्तम दिन है जिस दिन मौनपूर्वक व्रत आराधना और तीर्थंकर देवों का स्मरण चिन्तन करने का महान फल होता है।

श्रीकृष्ण वासुदेव ने पूछा '''प्रभो! अतीतकाल में इस व्रत की आराधना किसने की है? उसका क्या फल प्राप्त हुआ?''

भगवान नेमिनाथ ने बताया-अतीतकाल में सुर नाम का एक धनाढ्य श्रेष्ठी था। मानव-जीवन के सुख भोगते हुए एक दिन उसके मन में विचार उठा -'पूर्व जन्मों के पुण्य फल के रूप में मैं इस जन्म में सभी प्रकार के सुख भोग रहा हूँ। किन्तु यदि इस जन्म में धर्माराधना नहीं की तो फिर यह जीवन निरर्थक हो जायेगा और अगले जन्म में सद्गति नहीं मिल सकेगी।' यह विचार कर सुर श्रेष्ठी अपने धर्म-गुरु के पास गया और निवेदन किया-''गुरुदेव! मैं गृह-कार्यों में रात-दिन व्यस्त रहता हूँ। इस कारण धर्म-साधना में विशेष समय नहीं लगा सकता। कृपाकर मुझे कोई ऐसा मार्ग बताइये कि मैं कम समय में धर्माराधना करके विशेष फल की प्राप्ति कर सकूँ।'' इसके उत्तर में आचार्यश्री ने बताया - ''हे श्रेष्ठी! मार्गशीर्ष मास की शुक्ल एकादशी के दिन आठ प्रहर का पौषध व्रत लेकर मौनपूर्वक इस दिन जिनेश्वर देव की आराधना करने का महान् फल होता है।''

गुरुदेव की बताई विधि के अनुसार सुर श्रेष्ठी ने ग्यारह वर्ष तक प्रत्येक एकादशी को पौषध एवं पूर्ण मौनपूर्वक तप आराधना की। इस तप की आराधना से श्रेष्ठी सुर को अनेक शुभ फलों की प्राप्ति हुई। आयुष्य पूर्ण कर वह ग्यारहवें देवलोक में उत्पन्न हुआ और देव आयुष्य पूर्ण कर भरत क्षेत्र के सोरिपुर नगर में सुव्रत नाम का सेठ बना। पूर्व-जन्म के शुभ संस्कारों के कारण वहाँ भी उसे देव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुरु-धर्म की आराधना का अवसर मिला। श्रेष्ठी सुव्रत के पास ग्यारह करोड़ की धन-सम्पत्ति थी, जिसमें से वह दान-लोकोपकार के कार्य करके पुण्योपार्जन करता रहा।

एक बार सोरिपुर में धर्मघोष नामक आचार्य पधारे। सुव्रत श्रेष्ठी ने उपदेश श्रवण कर धर्ममार्ग पूछा तो आचार्यश्री ने कहा - ''श्रेष्ठी! तुमने पूर्व-जन्म में मौन एकादशी व्रत की आराधना की थी। उस आराधना के फलस्वरूप ही तुझे यहाँ संसार के सुख और धर्ममार्ग की प्राप्ति हुई है। यहाँ पर भी तुम इसी एकादशी व्रत की आराधना करो।''

गुरुदेव के वचनों से प्रेरित होकर सेठ सुव्रत ने मौन एकादशी व्रत की आराधना प्रारम्भ की। एक दिन जब वह आठ प्रहर का पौषध व्रत लेकर अपनी पौषधशाला में धर्माराधना कर रहा था। उस रात्रि के समय में चार चोर उसके घर में घुस आये और सेठ के धन-भण्डार में से हीरे, मोती, स्वर्ण-मोहरें आदि की गठरियाँ बाँधने लगे। सेठ अपनी धर्माराधना में लीन था। चोर उसके सामने धन की गठरियाँ बाँध रहे थे, परन्तु देखकर भी सेठ ने धन का मोह नहीं किया और मौन भाव पूर्वक धर्मध्यान करता रहा। सेठ की धर्म के प्रति यह अडिगता और निष्ठा अद्‌भुत थी। वह सोचने लगा - 'यह धन मेरा नहीं है। मेरा तो ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धन है जिसे कोई चुरा नहीं सकता।'

उसी समय घर में चोरों की आहट से नौकर-चाकर जाग गये। चोरों को पकड़ लिया। रात्रि में पहरा देने वाले सिपाहियों को बुलाकर उनके हवाले कर दिया। सैनिकों ने चोरों को कारागार में बंद कर दिया और प्रात:काल होने पर राजा के सामने पेश किया।

राजा ने सेठ सुव्रत को बुलाया और पूछा - ''सेठ जी! क्या इन लोगों ने आपके घर में चोरी करने का प्रयास किया है?''

सेठ को चोरों पर दया आ गई। सोचा -'यदि मैं कह दूँगा कि हाँ, तो राजा इनको प्राण दण्ड देगा। मेरे कारण इन चार प्राणियों की हत्या हो जायेगी।' सेठ का दयालु हृदय काँप गया। उसने कहा -'महाराज! ये चोर नहीं हैं। ये तो मेरे पुराने सेवक हैं। घर का सामान इधर-उधर जो बिखरा पड़ा था उसे ठीक-ठाक कर रहे थे। आप इनको छोड़ दीजिये। इन्होंने चोरी नहीं की है।''

सेठ की इस करुणाशीलता और उदारता पर राजा को भी बहुत आश्चर्य हुआ। नगर के लोगों ने भी सेठ की दयालुता की प्रशंसा की। चोरों का हृदय भी बदल गया। वे सेठ के चरणों में झुक गये। सेठजी - ''आपकी दयालुता ने ही आज हमारी जीवन-रक्षा की है, हम भविष्य में कभी भी चोरी जैसा कोई दुष्कर्म नहीं करेंगे।'' इस प्रकार सेठ की उदारता और दयालुता के प्रभाव से चोरों का हृदय बदल गया। नगर में जिनधर्म की प्रभावना हुई।

दूसरे वर्ष पुन: सेठ ने एकादशी व्रत की आराधना की। पौषध करके रात्रि में धर्म जागरण कर रहा था कि अचानक नगर में अग्नि प्रकोप हुआ। आसपास के भवन, दुकानें आदि अग्नि ज्वाला में जलकर भस्म होने लगे। लोग घरों से निकलकर इधर-उधर भागकर अपनी जान बचाने में जुट पड़े। परन्तु सेठ सुव्रत अडिंग भाव से आकुलता रहित अपनी धर्माराधना में स्थिर रहा। पड़ौसियों ने सेठ

को बहुत समझाया कि व्रत में भी आपत्तिकाल के आगार रहते हैं। तुम भागकर अपनी जान बचाओ। जीवित रहोगे तो व्रत आराधना फिर कर लेना। परन्तु सेठ सुव्रत अपने ध्यान से नहीं डिगा। तप का आश्चर्यजनक प्रभाव हुआ कि पूरे नगर में जहाँ बड़े-बड़े भवन जलकर राख हो गये वहाँ सेठ सुव्रत के भवन को आँच भी नहीं लगी। इसी प्रकार लोगों ने आश्चर्य के साथ धर्म का प्रभाव देखा और सुव्रत सेठ की प्रशंसा करने लगे। ग्यारह वर्ष तक सुव्रत सेठ ने लगातार मौन एकादशी व्रत की आराधना की। उसके बाद विजयशेखरसूरी के उपदेश से वैराग्य प्राप्त कर 11 कोटि मोहरों को त्यागकर दीक्षा ग्रहण कर ली।

मुनि बनने के पश्चात् भी सुव्रत मुनि ने मौन एकादशी तप की आराधना का क्रम चालू ही रखा। एक दिन एकादशी के दिन सुव्रत मुनि ने प्रातः संकल्प किया - 'आज पूर्ण मौन रखूँगा तथा अपने उपाश्रय से बाहर भी नहीं जाऊँगा।' रात्रि के समय एक मुनि के शरीर में वेदना उत्पन्न हुई। मुनि ने सुव्रत मुनि से कहा - ''मेरे शरीर में तीव्र वेदना हो रही है। तुम किसी श्रावक के घर जाकर मेरे लिए औषध लेकर आओ या श्रावक को कहों कि वह वैद्य को बुलाकर लाये।''

सुव्रत मुनि ने विचार किया - ''मैंने तो आज पूर्ण मौन व्रत लिया है और उपाश्रय से बाहर जाने का भी त्याग किया है फिर कैसे अपना नियम तोड़ूँ?' वेदनाग्रस्त मुनि के बार-बार कहने पर भी सुव्रत मुनि कुछ नहीं बोले तो मुनि को क्रोध आ गया। क्रोध में दूसरे मुनि ने सुव्रत मुनि को बहुत ही कठोर वचन बोले और अपने रजोहरण से बार-बार मारने भी लगे। सुव्रत मुनि फिर भी शान्त रहे, आक्रोश नहीं किया और अपनी आत्म-निरीक्षण करते रहे। उच्च शुभ भावधारा में बहते हुए उन्होंने घातिकर्मों का क्षय किया और केवलज्ञान प्राप्त कर केवली बन गये। अन्त में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष गये।

भगवान नेमिनाथ ने वासुदेव श्रीकृष्ण को मौन एकादशी का यह कथानक सुनाकर इस व्रत का महत्त्व बताया और कहा - ''प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन मौनपूर्वक तप, जप और तीर्थंकरों की आराधना करनी चाहिऐ।

जैन-परम्परा में जो भी व्रत विधान है, पर्व-आराधना है उसके पीछे तप, जप और त्याग का उद्देश्य रहा है। मार्गशीर्ष मास की शुक्ल एकादशी के पीछे भी यही भावना है। हम सदा वचन का व्यवहार करते है, परन्तु वर्ष में एक दिन तो सम्पूर्ण मौन व्रत धारण कर मौन का भी आनन्द लेवें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होली

होली का त्योहार भारतीय त्योहारों में एक अपने ढंग का अनोखा और निराला त्योहार है। अन्य त्योहारों में देव-मूर्तियाँ की पूजा होती है, परन्तु इस त्योहार में किसी मूर्ति की पूजा नहीं की जाती, अपितु कूडा-कचना गंदगी आदि जलाई जाती है। यह त्योहार बुराइयों के विध्वंस का प्रतीक है। अन्य त्योहारों की भांति इस त्योहार के मूल में भी मानव जाति की समानता, भाईचारा और परस्पर का मनोमालिन्य मिटाकर एक दूसरे के संग हर्ष-उल्लास मनाने की भावना निहित है, किन्तु धीरे-धीरे इसमें विकृतियाँ आ गई है।

वैसे हर एक परम्परा में पर्व या त्योहार का प्रारंभ किसी खास उद्देश्य के साथ ही होता है। यह त्योहार खेतों में फसल तैयार होने की खुशी में मनाया जाता है। होली की अग्नि में नये अन्न की बालों को भूनकर खाने के पीछे नई फसल का स्वाद लेने की भावना छुपी है। इस त्योहार की एक सबसे बडी विशेषता कहें या इसका उद्देश्य कहें कि इसमें सामाजिक समानता का बीज विद्यमान है।

होली में कीचड़, मिट्टी उछालना, असभ्य भाषा बोलना, भद्दे और अश्लील मजाक करना- यह तो मूर्ख एवं अज्ञानियों का काम है। मनोविनोद और मनोरंजन के लिए अश्लीलता की जरूरत नहीं है। किसी के कपड़े गंदे करके उसे रंगना यह तो मूर्खता का काम है। विजाती का परस्पर अश्लील, अभद्र व्यवहार होली में पशुता का प्रतीक माना गया है। इसलिए प्रत्येक त्योहार व पर्व मनाने में विवेक व ज्ञान होना जरूरी है। विवेकपूर्वक त्योहार मनाया जाये तो त्योहार आनंददायी होता है,उल्लास और उमंग देता है।

होली के त्योहार में कच्चे रंग का उपयोग होता है। कच्चा रंग हमें सूचित करता है - जीवन में सुख-दुख के प्रसंग होते हैं। कटुता, मान-अपमान आदि के भी प्रसंग बनते हैं। परन्तु उन रंगों को मन पर जमने मत दो। किसी के कटु शब्द, अपमानजनक व्यवहार, द्वेष और शत्रुता के भाव जो भी तुम्हारे साथ हुए उन्हें मिटा दो। उन रंगों को उडा दो। गुलाल के रंगों की तरह इन पुराने व्यवहारों को भूल जाओ और मन को फिर साफ सुथरा रखो तभी तो रंग-बिरंगी होली आपके जीवन की सुख और प्रसन्नता देगी, आनंद और उल्लास देगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होली की पौराणिक कथा हिन्दू पुराणों में तथा जैन कथा साहित्य में भी आती है। जैन कथा ग्रन्थों में हुताशिनी (ढूँढ़ा) की कथा प्रसिद्ध है। होलिका नाम की कोई वणिक् कन्या थी जो स्वभाव से चंचल और कामुक प्रवृत्ति वाली थी। वह चरित्र से भृष्ट होकर भी लोगों में अपने सतीत्व की झूठी प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहती थी और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अपनी शिक्षिका, परिव्राजिका को मोहरा बनाती थी। परिव्राजिका पर्णकुटी में रहती थी। होलिका ने अवसर देखकर फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन पर्णकुटी में सोयी परिव्राजिका समेत कुटिया जला दी। लोगों ने चारों ओर यह मिथ्या प्रचार कर डाला कि होलिका सती हो गई। उसने अपनी शील रक्षा के लिए आत्म दाह कर लिया । लोग उस कुटिया की राख को पवित्र राख मानकर शरीर पर लगाने लगे । तब परिव्राजिका, जो व्यन्तरी बन गई थी, उसने उस होलिका के दूराचार का भांडा फोडा। तब लोग होलिका के नाम पर कीचड़ उछालने लगे । उसे गालियाँ देने लगे और प्रतिवर्ष उस दुराचारिणी को जलाने का उपक्रम होने लगा । जैसे दशहरे पर रावण का पुतला जलाया जाता है, वैसे ही होली पर दुराचारिणी होलिका को जलाया जाता है।

इस प्रकार होली को असत्य और दुराचार का नाश करने वाले त्योहार के रूप में मनाने की प्रेरणा देते है। असदाचार, भ्रष्टाचार के उपर सदाचार की विजय करना- यही होलिका के आख्यान का संदेश है ।

अक्षय तृतीया

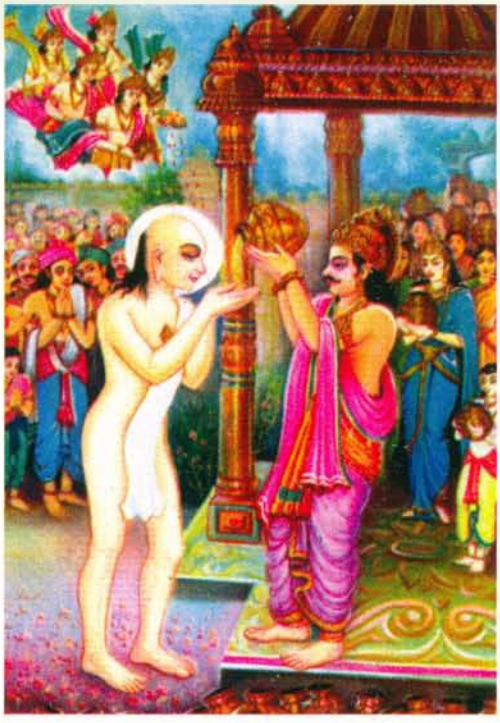

भारतीय इतिहास में वैशाख शुक्ल तृतीया का बडा ही महत्व है। भारतीय जनजीवन में यह अक्षय तृतीया किंवा... आखा तीज .... के नाम से पुकारा जाता है। इसका भावनात्मक सम्बन्ध प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से है। प्रभु के एक वर्ष चालिस दिन (400) निर्जल उपवास का पारणा इस दिन हुआ था। इसका इतिहास इस प्रकार है -

भगवान ऋषभदेव कर्मयुग को छोड़कर धर्मयुग की ओर जुडे। मुनि जीवन स्वीकार किया। दीक्षा के साथ ही ऋषभदेव के पूर्वार्जित अन्तराय कर्म का उदय आ गया। लोग भिक्षाविधि से अपरिचित थे। प्रभु के प्रति अपार श्रद्धा रखते हुए भी आहार-पानी के लिए किसी ने नहीं कहा। किसी ने हाथी, किसी ने घोड़ा, किसी ने रथ के लिए आग्रह किया। प्रभु को नंगे पैर देखकर किसी ने रत्न जड़ित जूते लाकर पहन लेने का आग्रह किया। किसी ने नंगे सिर देखकर मुकुट धारण करने का आग्रह किया, किन्तु आहार-पानी के लिए कोई भी आग्रह नहीं करता था।

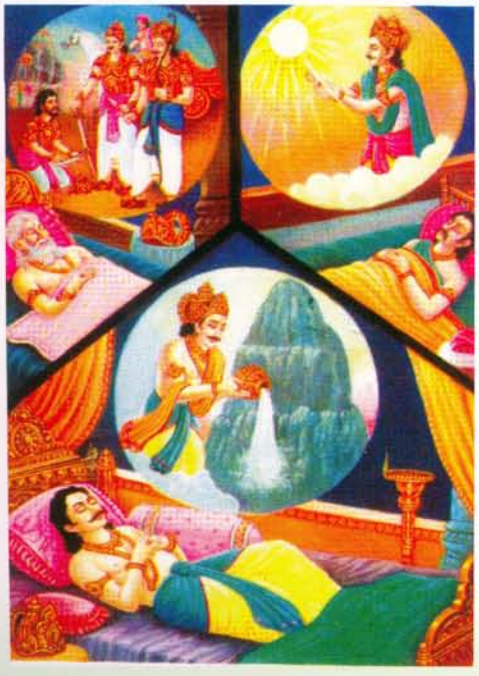

तीर्थंकर अनंत शक्तिधारी होते है। उन्हें क्षुधापिपासा की व्यथा नहीं सताती। परमात्मा को निराहार रहते 400 दिन बीत गये पर वे अपनी संयम साधना में निष्कंप थे। घूमते घूमते प्रभु हस्तिनापुर पधारे।

हस्तिनापुर के युवराज प्रभु के प्रपौत्र श्रेयांसकुमार ने गत रात्री के स्वप्न में स्वयं को श्यामता से श्यामीभूत मेरूपर्वत को अमृत घडों से धोकर उज्जवल करते हुए देखा। दूसरा स्वप्न सुबुद्धि सेठ ने देखा कि सूर्यबिंब से पतित सहस्र किरणों को श्रेयांसकुमार ने पुनः सूर्य में स्थापित किया। तीसरा स्वप्न सूर्ययश राजा का था कि अनेक शत्रुओं से धिरे हुए एक राजदूत को श्रेयांस ने विजयी बनाया। राजसभा में इन्हीं स्वप्नों पर चर्चा चल रही थी परन्तु उन स्वप्न का रहस्य सूचक अर्थ कोई समझ नहीं सके। श्रेयांसकुमार अपने महल के झरोखे में बैठकर स्वप्न पर विचार कर रहे थे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सहसा उनकी दृष्टि प्रभु पर पड़ी। पूर्वभव के संस्कार जगे । जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और प्रभु के साथ अपने आठ भवों के संबन्ध को जान लिया। ओह! श्रमण परिग्रह की लेशमात्र इच्छा नहीं करते फिर मणि, स्वर्ण, हाथी, घोडा, मुकट की तो बात ही क्या है? तुरन्त प्रभु के समीप पहुँच निवेदन किया। प्रभो! 18 कोडाकोडी सागरोपम पर्यन्त विच्छिन्न प्रासुक आहार की विधि का सम्यक् प्रदर्शन करा कर भव्यात्माओं का निस्तरण कीजिए। उसी समय ताजा शुद्ध आये हुए 108 घड़े इक्षुरस को आग्रह एवं श्रद्धापूर्वक प्रभु को हस्तपात्रों में बहराकर परमानंदित हुए, एवं सुपात्रदान के प्रभाव से मोक्षाधिकारी बने। **"अरिहंत ने दानज दीजे तीजे भव कारज सीजे रे।"** अरिहंत को दान (सुपात्रदान) दाता निश्चित तीसरे भव में मोक्ष जाता है। देवों द्वारा पंचदिव्य प्रकट हुए। युवराज को अक्षय सुख प्राप्त होने के कारण यह दिन अक्षय तृतीया कहलाया। इस तरह भ. ऋषभदेव का प्रथम पारणा इक्षुरस द्वारा हुआ। शेष 23 तीर्थंकरों का प्रथम पारणा खीर द्वारा हुआ।

प्रतिवर्ष अक्षयतृतीया हमारे हृदय में युग निर्माता भ. ऋषभदेव की याद जगाने आती है, हमारे पुरूषहीन जीवन में कर्म, त्याग और सेवा की मधुर भावना भरने आती है। महापुरूषों के जीवन में आई आपत्ति भी जगत के लिए संपत्ति का कारण बनी है। प्रभु के उस तप के ही अनुसरण स्वरूप आज श्री संघ में बडे पैमाने पर वर्षीतप की आराधना होती है। शारीरिक क्षमता की न्यूनता के कारण एकान्तर तप (एक दिन उपवास और एक दिन बैयासना) का वर्षीतप का स्वरूप स्वीकृत हो गया। विधिपूर्वक दो वर्षतप करने पर 400 उपवास की सम्पूर्ण आराधना होती है। इस तप का समापन उल्लासपूर्ण वातावरण में होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्षा बन्धन

जम्बू स्वामी के अन्तर मानस में एक प्रश्न कचोट रहा था कि तीर्थंकर भगवान केवलज्ञान और केवलदर्शन को पाने के पश्चात् एक स्थान पर अवस्थित क्यों नहीं होते? वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिभ्रमण कर उपदेश क्यों देते हैं, इसका क्या रहस्य है? जम्बूस्वामी ने गणधर सुधर्मास्वामी के सामने यह जिज्ञासा प्रस्तुत की। गणधर सुधर्मास्वामी ने जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा - वत्स। तीर्थंकर सभी जीवों की रक्षा के लिए, जन-जन के कल्याण के लिए यह पावन उपदेश प्रदान करते हैं।

''सव्व जग जीव-रक्खण-दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकमियं।''

भगवान महावीर स्वामी ही नहीं सभी तीर्थंकरों की वाणी का प्रवाह उनके करूणा द्रवित अन्त:करण से समस्त जगत् के जीवों की रक्षा के लिए ही प्रवाहित होता है।

रक्षा का अर्थ है प्रेम, दया, सहयोग और सहानुभूति। रक्षा जीवन में मधुरता का संचार करती है, भाईचारे की भव्य भावना को उजागर करती है। रक्षा शब्द में जीवन की शक्ति है, प्राण है, आत्मा का निज गुण है, जो पाप, ताप और संताप से मुक्त करता हैं। रक्षा के भीतर मानवीय सुख-दुख की सहानुभूति, संवेदना और उत्सर्ग की भावना छिपी है। दूसरों के दुखों से द्रवित होकर उनकी रक्षा के लिए अपने सुखों का बलिदान करना और कष्टों को स्वीकारना यह रक्षा के साथ जुड़ा है। यह मानव मन की पवित्रता का पावन प्रतीक हैं। लगता है कि जैसे नक्षत्र-मण्डल सूर्य और चन्द्र के चारों ओर परिक्रमा करते हैं, वैसे ही जितने भी धर्म और दर्शन है, रक्षा को केन्द्र-बिन्दु बनाकर ही आगे बढते रहे हैं।

रक्षा-बन्धन का पर्व कब प्रारंभ हुआ इस सम्बन्ध में जैन साहित्य में प्रचलित कथा इस प्रकार है -

महापद्म नामक चक्रवती सम्राट् थे। नमुचि नामक उनका मंत्री था। नमुचि ने कुछ ऐसा महत्वपूर्ण कार्य किया जिससे चक्रवर्ती सम्राट उस पर प्रसन्न हो गये। नमुचि के अन्तर मानस में जैन श्रमणों के प्रति स्वाभाविक रूप से घृणा थी, क्योंकि जैन श्रमणों ने अकाट्य तर्कों के द्वारा उसे वाद-विवाद में पराजित कर दिया था, वह इसका बदला लेना चाहता था। सुनहरा अवसर देखकर नमुचि मंत्री ने सात दिन के लिए राजा महापदम से साम्राज्य का वर प्राप्त कर लिया। सत्ता के नशे में उसने अन्याय, अत्याचार करना प्रारंभ किया। उसने जैन साधुओं से कहा कि ''हमारे राज्य में रहने का कर दो और कर न देने पर प्राण दण्ड की घोषणा की और सातवें दिन तक छह खण्ड का विराट् राज्य छोड़कर अन्यत्र जाने के लिए भी उसने कहा।'' जब यह सूचना सुमेरू पर्वत पर ध्यानस्थ एक जंघाचारण मुनि के द्वारा विष्णु मुनि को मिली जो वहाँ पर ध्यान मुद्रा में अवस्थित थे, वे शीघ्र ही अपने विध्याबल से वहाँ पर पहुँचे और नमुचि मंत्री से कहा कि जैन साधु का जीवन सम्राट से भी बढकर हैं, चक्रवर्ती सम्राट भी उनके चरणों में झुकता है। साधु किसी भी शासन में गुलाम बनकर नहीं रहता, वह तो धर्म चक्रवर्ती तीर्थंकर के शासन में रहता है, तुम साधुओं को न सताओं यही तुम्हारे

लिए श्रेयस्कर है।'' पर दुराग्रही नमुचि नहीं माना तब विष्णुकुमार मुनि ने अपने लिए केवल तीन पैर रखने के लिए जगह माँगी। नमुचि मंत्री ने कहा - ''तुम महापदम चक्रवर्ती के भाई हो इसलिए मैं तुम्हें तीन पैर रखने की जगह देता हूँ।'' विष्णु मुनि ने अपने शरीर को इतना विराट् बनाया कि दो पैर से ही सम्पूर्ण मानव क्षेत्र को नाप लिया और जब तीसरे पैर को रखने के लिए भूमि माँगी तो नमुचि मंत्री का मस्तिष्क चकरा गया। वह चरणों में गिर पडा। वह अपने अपराधों की क्षमा माँगने लगा। जैन साधु संघ की रक्षा करने के कारण, उसी दिन से रक्षा पर्व विश्रुत हुआ। माना जाता है श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन यह घटना घटी। इसलिस रक्षा बंधन के रूप में यह पर्व मनाया जाने लगा।

रक्षा बन्धन के पवित्र दिन परनारी मात्र को बहन मानकर उसकी अस्मिता की, उसकी पवित्रता की रक्षा करने का एक दृढ़ संकल्प सभी भाइयों को करना चाहिए।

पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में जो संघर्ष है उन संघर्षो को समाप्त करने के लिए तथा सुख और शांति से राष्ट्र को आगें बढाने के लिए हमें पर्व के अन्तर हृदय को समझना होगा, जो पर्व की आत्मा है, धागा तो धागा ही रहता है, उस सामान्य धागे का कोई महत्व नहीं है, राखी के रूप में जब वह धागा बँधता है तो वह धागा नहीं रहता अपितु स्नेह-सूत्र बन जाता है। जिसने आपके हाथों में राखी बाँधी है, उसके जीवन का दायित्व आप पर है, केवल सोना-चाँदी के टुकडे देकर आप चाहें कि मैं उस उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाऊँगा तो यह नहीं हो सकता। जो उच्च दायित्व आपने ग्रहण किया है उसे ईमानदारी के साथ निभायेंगे तभी रक्षा-सूत्र की सार्थकता है, यही है इस पर्व की आत्मा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* परीक्षा के नियम *

परीक्षा में भाग लेनेवाले विद्यार्थियों को फॉर्म भरना आवश्यक हैं।
कम से कम 20 परीक्षार्थी होने पर परीक्षा केन्द्र खोला जा सकेगा।

* पाठ्यक्रम	:	भाग 1 से 6 तक
* योग्यता	:	ज्ञानार्जन का अभिलाषी
* परीक्षा का समय	:	फरवरी, जुलाई
* श्रेणी निर्धारण		
विशेष योग्यता	:	75% से 100%
प्रथम श्रेणी	:	60% से 74%
द्वितीय श्रेणी	:	46% से 59%
तृतीय श्रेणी	:	35% से 45%
* परीक्षा फल (Results)	:	परीक्षा केन्द्र पर उपलब्ध रहेगा/ www. adinathjaintrust.com
* प्रमाण पत्र	:	संबंधित परीक्षा केन्द्रों पर प्रमाण पत्र भिजवाए जाएंगे।

1. Certificate Degree
2. Diploma Degree

प्रभु !

मुझे आप जैसा बनना है!!!

मैं हिंसक हूँ..... मुझे अहिंसक बनादो !

मैं झूठ बोलता हूँ..... मुझे सत्यवादी बनादो !

मैं कृपण हूँ..... मुझे उदार बनादो !

मैं कामी हूँ..... मुझे संयमी बनादो !

मैं अहंकारी हूँ..... मुझे नम्र बनादो !

मैं मायावी हूँ..... मुझे सरल बनादो !

मैं रागी हूँ..... मुझे विरागी बनादो !

मैं द्वेषी हूँ..... मुझे वीतरागी बनादो !

मैं दोष देखनेवाला हूँ..... मुझे गुणग्राही बनादो !

मैं परनिन्दक हूँ..... मुझे स्वनिब्दक बनादो !

मैं प्रमादी हूँ..... मुझे अप्रमादी बनादो !

मैं संसारी हूँ..... मुझे मुक्त बनादो !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org